उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य। वरान्निबोधत

उठो जागो और लक्ष्य प्राप्त किए बिना विश्राम मत लो।

विवेक शिखा

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द-भावधारा की एकमात्र हिन्दी मासिकी

वर्ष—५ मई—१९८६ अंक—५

इष्टदेव का हृदय-कमल में रूप अनूप दिखा। निजानन्द में रखती अविचल विमल 'विवेक शिखा'॥

संपादक

डॉ० केदारनाथ लाभ

सहायक संपादक

शिशिर कुमार मल्लिक

श्याम किशोर

संपादकीय कार्यालय :

रामकृष्ण निलयम्

जयप्रकाश नगर,

छपरा—८४१३०१

(बिहार)

सहयोग राशि

आजीवन सदस्य	२५० रु०
षड् वार्षिक	१०० रु०
त्रैवार्षिक	५५ रु०
वार्षिक	२० रु०
एक प्रति	२ रु० ५० पैसे

रचनाएँ एवं सहयोग-राशि संपादकीय कार्यालय के पते पर ही भेजने की कृपा करें।

श्रीरामकृष्ण ने कहा है

(१)

जैसे रुई के पहाड़ में एक छोटी-सी चिनगारी पड़ जाने पर देखते-ही-देखते वह जलकर खाक हो जाता है, वैसे ही भक्ति के साथ भगवान् का नामगान करने पर पर्वत समान पाप भी नष्ट हो जाता है।

(२)

वैराग्य कई प्रकार का है। संसार में दुःख-कष्ट पाकर एक प्रकार का वैराग्य आता है। परन्तु, संसार के सभी भोग सुख असार, अनित्य हैं इस बोध के कारण जो वैराग्य आता है, वही यथार्थ वैराग्य है। किसी में यदि यह वैराग्य आ जाए तो सब कुछ रहते हुए भी उसके लिए कुछ नहीं है।

(३)

तालाब का पानी काई और घास-पत्तियों से ढँका होने के कारण उसमें खेलती हुई मछली दिखाई नहीं पड़ती। इसी भाँति मनुष्य की दृष्टि माया के आवरण से आच्छन्न होने के कारण वह अपने हृदय में लेलायमान प्रभु को देख नहीं पाता।

(४)

सच कहता हूँ, जो ईश्वर को चाहता है, वह उन्हें पाता है। यह सत्य है या नहीं, स्वयं परखकर देखो। अधिक नहीं, सिर्फ तीन दिन ठीक-ठीक करके देखो।

(५)

भगवान् के कान बड़े तीक्ष्ण हैं। तुमने अभी तक जो कुछ भी प्रार्थना की है वह सब उन्होंने सुना है। वे किसी-न-किसी समय तुम्हें अवश्य ही दर्शन देंगे—कम-से-कम मृत्यु के समय तो देंगे ही।

गुणगान प्रभु का कीजिए

—श्री द्वारका प्रसाद शर्मा
वृन्दावन।

शुद्ध मन से सर्वदा गुणगान प्रभु का कीजिए।
भक्ति औ विश्वास से नित नाम प्रभु का लीजिए॥

प्रेम रस के सिन्धु हैं वे, स्नेह के आगार हैं।
हैं कृपा के स्रोत उत्तम, दीन-बन्धु उदार हैं॥२॥

त्याग विषयासक्ति सारी, सिर्फ प्रभु को ध्याइए।
शोक-पाप-त्रिताप भय से मुक्ति सत्वर पाइए॥३॥

रामकृष्ण सुनाम जिनका, भक्त के वे दुःख हरें।
पा कृपा-सम्बल उन्हीं का अधम भी भवनद तरें॥४॥

सर्वदा अशरण-शरण वे, भक्त के भगवान् हैं।
हैं पतित पावन, दयामय, सर्व सद्गुण-खान हैं॥५॥

मातु-पितु-भ्राता-सखा, सब हैं सभी के ईश हो।
जाइए उनकी शरण में, सन्तजन कहते यही॥६॥

सम्पादकीय सम्बोधन

अप्प दीपो भव

मेरे आत्मस्वरूप मित्रो,

वह बैशाख की पूर्णिमा थी। सूरज की आग बरसाती प्रखर किरणों के बीच पंचाग्नि तपस्या कर दिन अपना आसन समेट चुका था। संध्या उतर आयी थी। ग्रीष्मेषु संध्या। ग्रीष्म की संध्या। दिन के ताप-तप्त प्राणियों में शीतलता की करुणा बरसा रही थी वह। ऊपर नीले आकाश में पूर्णिमा का चन्द्रमा अपने असीम प्रेम की किरणों का वितान फैला चुका था। नीचे मलय-समीर के झोंकों से तरु-लताएँ झूम रही थीं। बन-फूल अपनी सुगंध से निश्छल समर्पण का साम-संगीत सिरज रहे थे। 'ऊँ मणिपद्मे हुम्'·· 'ऊँ मणिपद्मे हुम्'·····ऊँ मणिपद्मे हुम्'—पेड़ों के पत्तों की मर्मर ध्वनि जैसे मंत्रोच्चार कर रही थी। प्रकृति – पूरी प्रकृति ही प्रार्थना में झुकी किसी शुक्ल वसना पुजारिन की भाँति लग रही थी। मानो मन में एक मैत्री, मुदिता, उपेक्षा और करुणा की झंकार उत्पन्न कर रही थी।

कुशीनगर। मल्लों का प्रशस्त शालवन। एक वृक्ष के नीचे पद्मासन में बैठे भगवान् बुद्ध—चारों ओर अपने भक्तों और भिक्षुओं से घिरे हुए। अपने अर्धनिमीलित नेत्रों को धीरे-धीरे उन्होंने ऊपर उठाया। होंठों पर एक अनासक्त किन्तु भुवन-विमोहन स्मिति फैल गयी। फिर शान्त-स्थिर और मन्द्र ध्वनि से एक अनाहत संगीत उत्पन्न करते हुए उन्होंने कहा—"मैं अब वृद्ध हो चला हूँ, मेरी यात्रा भी समाप्तप्राय है। मैं अस्सी वर्ष पूरे कर रहा हूँ। मेरे लिए शय्या तैयार करो।"

शय्या लगा दी गयी। बुद्ध उस 'सिंह शय्या' पर दायीं करवट हो सिंह के समान लेट गये—अपनी महा-समाधि के लिए प्रस्तुत होकर। उनके अन्यतम और प्रिय शिष्य आनन्द फूट-फूट कर रोने लगे। वे अबतक अर्हंत (पूर्ण) नहीं हो पाये थे। बुद्ध ने शान्त मुद्रा में पूछा—"आनन्द, क्यों रो रहे हो? कोई भी हो, चाहे वह तथागत ही हों, मृत्यु को अवश्य प्राप्त होता है। कोई भी हो, सभी संघटित वस्तुएँ विघटनशील हैं। जो वस्तुएँ पैदा होती हैं वे भी आयु को प्राप्त होती हैं, पुनः नष्ट होने के लिए उत्पन्न होती हैं, इस दशा से मुक्ति पाना ही परमानन्द है।"

आनन्द ने कहा—'भगवन्, आपके नहीं रहने से हम आश्रयहीन हो जायँगे। कौन हमें गहन अँधेरे में दीपक बनकर प्रकाश दिखाएगा?

"अप्प दीपो भव'— तुम स्वयं अपना दीपक बनो। भिक्षुओं को किसी पर आश्रित रहने की कोई आवश्यकता नहीं, वे आत्मा को ही आश्रय समझें, धर्म ही आश्रय है। ···· ·· मैंने अपनी आत्मा को अपना आश्रय बना लिया है, मैं तुम्हें छोड़ रहा हूँ और तुमसे विदा ले रहा हूँ" (दीप निकाय !! १२०)। और बुद्ध ने महासमाधि ले ली।

भगवान् बुद्ध के लीला संवरण के समय की यह बड़ी प्रसिद्ध कथा है।

"अप्प दीपो भव"—तुम स्वयं अपना दीपक बनो, अपने लिए तुम स्वयं अपना आलोक-स्तम्भ, प्रकाशपुंज बनो। कोई दूसरा तुम्हारा प्रकाश-स्तंभ नहीं बन सकता। तुम्हारे जीवन में चाहे कितना ही घना अंधकार क्यों न आ जाय, तुम्हें स्वयं अपनी राह पर चलना होगा, अपनी आत्मा के आलोक को जगाना होगा,

अपनी आत्मा के आश्रित होना होगा।

"अप्प दीपो भव।" कितना अर्थवान्, कितना प्रासंगिक है भगवान् बुद्ध के द्वारा दिया गया उनका यह अंतिम उपदेश! यह उपदेश व्यक्ति, समाज और राष्ट्र सबके लिए सार्थक है, सबके लिए मननीय, सबके लिए आचरणीय।

हम जब भी अँधेरे से घिरे होते हैं, बेचैन हो जाते हैं। मन पूछने लगता है –कौन हमें प्रकाश दिखाएगा, कौन हमें गंतव्य तक ले जायगा, कौन हमारा दुःख दूर करेगा, किसके आश्रित हों हम? किन्तु, यह प्रश्न ही गलत है। कोई हमें सदैव प्रकाश नहीं दिखा सकता। कोई हमें हमारे गंतव्य तक नहीं पहुँचा सकता। कोई हमारा दुःख दूर नहीं कर सकता। कोई प्रधान मंत्री किसी राष्ट्र का उद्धार नहीं कर सकता। कोई सामाजिक नेता समाज की समस्याएँ दूर नहीं कर सकता। कोई गुरु अपने शिष्य को मुक्त नहीं कर सकता। इसलिए, प्रत्येक युग में गुरु अपने शिष्यों से कहता है– मैं तुम्हें मार्ग तो दिखा सकता हूँ, दिशा-निर्देश तो कर सकता हूँ, प्रकाश की किरणें भी कुछ विकीर्ण कर दे सकता हूँ लेकिन आगे तो तुम्हे स्वयं बढ़ना होगा, विश्वास और श्रद्धा के फूल अपने भीतर तो तुम्हें स्वयं खिलाने होंगे, अंततः अपना प्रकाश तो तुम्हें स्वयं विकीर्ण करना होगा।

भगवान् श्रीकृष्ण ने भी अपने प्रिय शिष्य अर्जुन से यही कहा—

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः॥
(गीता ६। ५)

अर्थात्—'अर्जुन, तुम अपने द्वारा स्वयं अपना उद्धार करो। अपने आप को अधोगति में नहीं ले जाओ, क्योंकि मनुष्य स्वयं ही अपना मित्र और स्वयं ही अपना शत्रु है। यानी तुम्हारा दूसरा कोई और शत्रु या मित्र नहीं है।' यह उक्ति व्यक्ति पर ही नहीं समाज और राष्ट्र पर भी समान रूप से लागू होती है। स्वामी विवेकानन्द कहते हैं – "अपनी आत्मा का अपने उद्योग से उद्धार करो"—यह सब परिस्थितियों में लागू होता है। हम उनकी (दीन-दरिद्रों, किसान मजदूरों की) सहायता इसलिए करते हैं, जिससे वे स्वयं अपनी सहायता कर सकें। ·····जिस क्षण उन्हें अपनी अवस्था का ज्ञान हो जायगा और वे सहायता तथा उन्नति की आवश्यकता को समझेंगे, तब जानना कि तुम्हारा प्रभाव पड़ रहा है, एवं तुम ठीक रास्ते पर हो। ···किसान और श्रमिक समाज मरणासन्न अवस्था में हैं, इसीलिए जिस चीज की आवश्यकता है, वह यह है कि धनवान उन्हें अपनी शक्ति को पुनः प्राप्त करने में सहायता दें और कुछ नहीं। फिर किसानों और मजदूरों को अपनी समस्या का सामना और समाधान स्वयं करने दो।"

स्वामी विवेकानन्द की भगवान् बुद्ध में असीम श्रद्धा थी। अमेरिका में किसी ने उन्हें भ्रम से बौद्ध समझ लिया था। उन्होंने तुरंत दृढ़ कंठों से किन्तु नम्रता पूर्वक कहा—"बौद्ध! मैं बुद्ध के दासों के दासों का दास हूँ।"

अनेक विद्वान् बुद्ध और विवेकानन्दमें अनेक समानताएँ पाते हैं। हैं भी। लेकिन स्वामीजी ने कभी अपनी तुलना बुद्ध से नहीं की। बौद्ध दर्शन से पूर्णतः सहमत नहीं रहने पर भी दो कारणों से बुद्ध के प्रति उनमें अपार श्रद्धा थी। पहला कारण तो स्वामीजी के शब्दों में ही सुनिए—"बुद्ध ही एक व्यक्ति थे, जो पूर्णतया तथा यथार्थ में निष्काम कहे जा सकते हैं। ऐसे अन्य कई महापुरुष थे, जो अपने को ईश्वर का अवतार कहते थे और विश्वास दिलाते थे कि जो उनमें श्रद्धा रखेंगे, वे स्वर्ग प्राप्त कर सकेंगे। पर बुद्ध के अधरों पर अन्तिम क्षण तक ये ही शब्द थे, 'अपनी उन्नति अपने ही प्रयत्न से होगी। अन्य कोई इसमें तुम्हारा सहायक नहीं हो सकता। स्वयं अपनी मुक्ति प्राप्त करो।' अपने सम्बन्ध में भगवान् बुद्ध कहा करते थे, 'बुद्ध शब्द का अर्थ है—आकाश के समान अनन्त ज्ञान-सम्पन्न; मुझ गौतम को यह अवस्था प्राप्त हो गयी है। तुम भी यदि प्राणप्रण से प्रयत्न करो, तो उस स्थिति को प्राप्त कर सकते हो।' (वि० सा० सप्तम खंड पृ० १९८) और दूसरा कारण

यह था कि भगवान् बुद्ध के समान ही एक दूसरे परम पुरुष को उन्होंने अपनी आँखों से देखा था। वे थे भगवान् श्रीरामकृष्ण। बुद्ध के समान ही वीतरागी, सर्व-कामनाजयी; बुद्ध के समान ही परम करुणामय, आत्माश्रित; और बुद्ध के समान ही जीवन के अन्तिम क्षणों तक लोक मंगल के लिए अपने निश्छल प्रेम का पीयूष और मंगलमय संदेशों का अमृत बाँट कर सबको गले लगाने को प्रस्तुत। भगिनी निवेदिता ने लिखा है—"In Buddha, he saw Ramakrishra : in Ramakrishna he saw Buddha." (C. W. of Sister Nivedita : vol. 1Page 175) अर्थात् "उन्होंने (स्वामी ववेकानन्द ने) बुद्ध में श्रीरामकृष्ण परमहंस को देखा और श्रीराम कृष्ण में उन्होंने बुद्ध को देखा।"

स्वभावत: श्रीरामकृष्ण के परम पावन और करुणामय व्यक्तित्व तथा वाणी से सिक्त-अभिषिक्त एवं संदीपित स्वामीजी की वाणी में बुद्ध और श्रीरामकृष्ण के स्वर संगीत सुनाई पड़ते हैं।

"अप्प दीपो भव।" तुम स्वयं अपना दीपक बनो—बुद्ध ने रोते हुए आनन्द से कहा था। वस्तुत: आनन्द के रोने पर बुद्ध ने उन्हें फटकारा था। बुद्ध से प्रकाश मत माँगो, बुद्ध बनो। बुद्ध किसी व्यक्ति का नहीं, परम अनुभूति का नाम है। इस दिव्यानुभूति की चरम अवस्था को कोई भी प्राप्त कर सकता है। बुद्ध का सच्चा शिष्य अंधकार में रोयेगा नहीं। वह स्वयं प्रकाशपुंज बनेगा। स्वयं बुद्ध बनेगा। बुद्ध को ऐसे शिष्य की आवश्यकता नहीं, जो बुद्ध को शरीर मानकर, उनकी देह-त्याग के समय रोने लगे। नहीं, उस शिष्य ने बुद्ध को समझा ही नहीं, पहचाना ही नहीं। बुद्ध को ऐसे शिष्यों की जरूरत है जो बुद्ध हो सकें, अर्हंत (पूर्ण) हो सकें।

स्वामीजी भी अपने किसी व्यथित शिष्य को फटकारते हैं—"तुम क्यों रोते हो, वन्धु ? तुम्हीं में तो सारी शक्ति निहित है। ऐ महान्, अपनी सर्वशक्तिमान प्रकृति को उद्‌बुद्ध करो; देखोगे, यह सारी दुनिया तुम्हारे पैरों पर लोटने लगेगी। एकमात्र आत्मा ही शासन करती है, जड़-पदार्थ क्या शासन करेगा ? अपने को शरीर से अभिन्न समझने वाले मूर्ख व्यक्ति ही करुण स्वर से चिल्लाते हैं, 'हम दुर्बल हैं, हम दुर्बल हैं।.....।"

स्वयं दीप बनने के लिए आवश्यक है हम अपने में श्रद्धा और विश्वास रखें। स्वामीजी ने इसे सिंह गर्जना के साथ लोगों को सुनाया—'वह नास्तिक है जो स्वयं में विश्वास नहीं करता है। पुराने धर्म ने कहा है कि वह नास्तिक है जो ईश्वर में विश्वास नहीं करता। नया धर्म कहता है कि वह नास्तिक है जो अपने-आप में विश्वास नहीं करता।' वे अन्यत्र कहते हैं—"If you have faith in all the three hundred and thirty millions of your mythological gods, and in all the gods which foreigners have now and again introduced into your midst, and still have no faith in yourselves, there is no salvation for you." (III-190) अर्थात् यदि तुम्हें तैंतीस कोटि अपने पौराणिक देवताओं तथा उन सभी देवताओं में श्रद्धा है जिन्हें विदेशियों ने तुम्हारे सम्मुख बार-बार प्रस्तुत किया है, और तब भी अपने-आप में श्रद्धा नहीं है, तो तुम्हारे लिए मुक्ति नहीं है।

आत्म-दीप होने के लिए आवश्यकता है सम्यक् आचरण की, असीम दया और प्रेम से परिपूर्ण होकर बहुजन हिताय अपने सुखों की बलि देने की। रोते हुए आनन्द को बुद्ध ने "विश्वास दिलाया कि उनके सभी आचरण सम्यक् रहे हैं और वह शीघ्र ही 'संसार से मुक्त होंगे' अर्थात् अर्हन्त पद प्राप्त करेंगे। इन्होंने आनन्द से भिक्षुओं की संगति में रहने और अपने को नृपों में श्रेष्ठ नृप के समान समझने को कहा।" (गौतम बुद्ध : कुमार स्वामी और हॉर्नर : पृ० १२)

स्वामीजी ने भी यही बात अपनी अन्यतम शिष्या भगिनी निवेदिता से कही—"संसार के वीरो को और सर्वश्रेष्ठों को 'बहुजन हिताय, बहुजन सुखाय' अपना बलिदान करना होगा। असीम दया और प्रेम से परिपूर्ण सैकड़ों बुद्धों की आवश्यकता है।.....संसार को ऐसे

लोग चाहिए जिनका जीवन स्वार्थहीन ज्वलन्त प्रेम का उदाहरण हो। वह प्रेम एक-एक शब्द को वज्र के समान प्रभावशाली बना देगा।" भगिनी निवेदिता को उद्‌बोधित करते हुए स्वामीजी आगे लिखते हैं—"मेरी दृढ़ धारणा है कि तुममें कुसंस्कार नहीं है। तुममें वह शक्ति विद्यमान है जो संसार को हिला सकती है ..... । महामना, उठो! उठो! संसार दुःख से जल रहा है। क्या आप सो सकती हैं? हम बार-बार पुकारें जब तक सोते हुए देवता न जाग उठें, जब तक अन्तर्यामी देव उस पुकार का उत्तर न दें।" (पत्रावली : पृ ४५०-५१)।

आत्मदीप बनने के लिए सम्यक् चरित्र के निर्माण की, मनुष्यत्व की प्राप्ति की, निस्वार्थता और प्रेम की उपलब्धि की यात्रा हमें करने होगी। गुरु संकेत करेंगे। यात्रा हमें स्वयं करनी होगी। स्वामीजी एक किस्सा सुनाया करते थे--

एक निकम्मा भिखमंगा सड़क पर चलते-चलते एक वृद्ध को अपने मकान के द्वार पर बैठा देखकर रुककर उससे पूछने लगा— अमुक ग्राम कितनी दूर है? बुड्ढा चुप रहा। भिखमंगे ने कई बार प्रश्न किया; परन्तु उत्तर न मिला। अन्त में जब उकताकर वह वापस जाने लगा, तब बुड्ढे ने खड़े होकर कहा, 'वह ग्राम यहाँ से एक मील है।' भिखमंगा कहने लगा— 'तुम पहले क्यों नहीं बोले, जब मैंने तुमसे कितनी बार पूछा था?' बुड्ढे ने उत्तर दिया, 'क्योंकि पहले तुमने जाने के लिए लापरवाही दिखायी थी और दुविधा में मालूम होते थे; परन्तु अब तुम उत्साहपूर्वक आगे बढ़ रहे हो इसलिए अब तुम उत्तर पाने के अधिकारी हो गये हो!' (पत्रावली २४४) यानी हम आत्मदीप बनने के अधिकारी तभी होते हैं जब हमारे पाँव अपना दीप स्वयं जलाने के लिए आगे बढ़ जाते हैं।

कुमारी मेकलॉयड ने स्वामीजी के अमेरिका में दिये गये एक व्याख्यान के विषय में लिखा है—"उन्होंने कुछ कहा, जिसका खास शब्द मुझे याद नहीं है, किन्तु तुरत मुझे लगा कि वह सत्य था, और दूसरा वाक्य जो उन्होंने कहा वह सत्य था, और तीसरा वाक्य सत्य था। और मैंने उनके भाषण सात वर्षों तक सुने हैं और उन्होंने जो कुछ कहा वह मेरे लिए सत्य था। उस क्षण से जीवन का अर्थ ही भिन्न हो गया। लगता था, मानो उन्होंने यह अनुभव करा दिया कि मैं अनन्तता में हूँ।' (स्वामी विवेकानन्द इन द वेस्ट : न्यु डिस्कवरीज : पृ० २५) हाँ, जीवन का अर्थ बदल जाता है, जब सत्य हमारे भीतर प्रवेश कर जाता है। जीवन का अर्थ बदल जाता है, जब हमें अनन्तता में अपने होने का बोध हो जाता है। जीवन का अर्थ बदल जाता है, जब हम आत्मदीप हो जाते हैं।

उसी भाषण में स्वामीजी ने कहा था—'सदा याद रखो कि संयोग से तुम अमरीकी और स्त्री हो, लेकिन तुम सदैव ईश्वर की सन्तान हो। दिन-रात स्वयं को कहती रहो कि तुम कौन हो। इसे भूलो नहीं।' (वही : पृ० २६) श्रीरामकृष्ण कहा करते थे—तुम जैसा सोचोगे वही हो जाओगे।' अतः आत्मदीप होने के लिए यह भी आवश्यक है कि हम अपने को निरन्तर अखंड, अक्षय आनन्द का संगीत महसूस करते रहें, चिरन्तन प्रकाश का निर्झर समझते रहें।

'अप्प दीपो भव'। तुम स्वयं अपना दीपक बनो। यानी स्वयं बुद्ध बनो! स्वयं श्रीरामकृष्ण बनो। स्वयं श्रीमाँ सारदा बनो। स्वयं स्वामी विवेकानन्द बनो। श्रीरामकृष्ण, श्री माँ और स्वामीजी से मेरी प्रार्थना है कि वे हमें आत्मदीप बनने की प्रेरणा और शक्ति प्रदान करें। जय श्रीरामकृष्ण! जय स्वामी जी!!

▣

१४ मई : आचार्य शंकर की जन्म तिथि के अवसर पर

आचार्य शंकर और उनका वेदान्त दर्शन

श्रीमत् स्वामी गम्भीरानन्दजी महाराज
महाध्यक्ष, रामकृष्ण मठ एवं मिशन

('India's contribution to the world thought and religion' नामक पुस्तक में प्रकाशित निबन्ध से उद्धृत एवं अनुवादित। अनुवादक हैं, श्री रामेश्वर यादव, पटना।—सं०]

सभी प्रकार की नैतिकता के बौद्धिक एवं आध्यात्मिक औचित्य-प्रतिपादन (rational and spiritual justification) के हेतु स्वामीजी (स्वामी विवेकानन्द) ने आचार्य शंकर के अद्वैत-वेदान्त दर्शन का ही आश्रय लिया है। यद्यपि कहीं-कहीं उन्होंने श्रीरामकृष्णदेव से प्राप्त ज्ञानालोक में इसकी व्याख्या अपने ढंग से की है। आलोचकों के इस प्रश्न के प्रत्युत्तर में कि संसार के अस्तित्व को अस्वीकार करने वाला यह दर्शन मानवता की सेवा के लिए प्रेरक-शक्ति कैसे प्रदान कर सकता है, स्वामीजी ने कहा कि इस दर्शन की बहुत ही अभावात्मक व्याख्या (Negative interpretation) की गयी है। इसके बहुत से अनुयायियों की इस मान्यतानुसार कि जगत् एक सपना है, इस जगत् का अस्तित्व ही नहीं है और इसका त्याग, खासकर सभी कर्मों का त्याग, मुक्ति प्राप्ति का एकमात्र निश्चित पथ (Surest way) है। स्वामीजी के मतानुसार बौद्ध-धर्म ने अपनी अवनति और विघटन काल में इस अत्यन्त अभावात्मक विचार (Negative attitude) में कम योगदान नहीं दिया। यद्यपि स्वामीजी को भगवान् बुद्ध के प्रति अगाध श्रद्धा थी, लेकिन उनके विचारों की विकृत व्याख्याओं के प्रति उनका कोई प्रेम न था। उनके मतानुसार बुद्ध आभ्यान्तरिक रूप से वेदान्तिक थे, यद्यपि उन्होंने ईश्वर एवं आत्मा सम्बन्धी भावात्मक वक्तव्यों (Positive statements) से अपने-आप को अलग रखा था। यथार्थ आचरण (Actual practice) पर बल देने के लिए उन्होंने निस्सार आध्यात्मिक चिन्तनों empty spiritual speculations) का हमेशा वर्जन किया। यह इस बात का द्योतक नहीं है कि वे शून्यवादी (Nihilist) थे। लेकिन परवर्त्ती कालीन बौद्धों ने उन्हें इसी रूप में प्रस्तुत किया और इसके प्रमाण में एक जटिल तर्कजाल की रचना की। शंकर के परवर्तीकालीन वेदान्तियों को तात्त्विक और तार्किक धरातल (Metaphysical and Logical grounds) पर अपने विरोधियों का सामना करने के लिए बहुत ही विकट परिस्थितियों से जूझना पड़ा और आसानी से विजय प्राप्त करने हेतु उन्होंने अचेतन रूप से उनके अभावात्मक-दर्शन (Negative philosophy) को अंगीकार कर लिया। अतएव पतनोन्मुख बौद्ध-धर्म ने न केवल भारतीय धार्मिक आचार-विचार में परिवर्तन ला दिया बल्कि इसके अभावात्मक-दर्शन ने पूर्व निराशावादी दृष्टिकोण को प्रोत्साहित भी किया जिससे शेखीवाजी और कर्महीनता (Tall talk and no action) को बल मिला।

लेकिन शंकर स्वयं न तो शून्यवादी थे और न पलायनवादी। यदि किसी को इस सम्बन्ध में संदेह हो तो उन्हें उनके जीवन पर दृष्टिपात करना चाहिए क्योंकि उनके दर्शन को उनके कार्यों से अलग नहीं किया जा सकता है। एक अद्वैत-अनुभूति सम्पन्न महापुरुष होते हुए भी सम्पूर्ण भारतवर्ष की यात्रा कर उन्होंने मठों एवं मन्दिरों की स्थापना की, वेदों तथा सनातन धर्म की रक्षा हेतु विभिन्न संन्यासी सम्प्रदायों को चलाया

और विकृत विचारों एवं भ्रान्त दार्शनिक सिद्धान्तों को समाप्त कर हिन्दू धर्म का सुधार किया। दूसरों के कल्याण व्रत में व्रती वे एक महान् कर्मी थे। साथ ही वे भक्त भी थे। यही कारण है कि उन्होंने विभिन्न देवी-देवताओं की स्तुतियों की रचना की। यह सब (कार्य) किसी भी अर्थ में संसार के नकारपन (Denial of the world) को प्रमाणित नहीं करता है। शंकर ने केवल जिस सत्य का विवेचन किया वह यह है कि निर्विकल्प समाधि की उच्च अवस्था में द्वैत का अस्तित्व नहीं रहता है बल्कि उस स्थिति में सभी तर्क-वितर्क बन्द हो जाते हैं। सिर्फ सापेक्ष स्तर (Relative plane) पर ही द्वैत-धारणाएँ (Concept of duality) होती हैं। फिर इस निम्न स्तर पर ही द्वैत और अद्वैत सम्बन्धी बौद्धिक चिन्तन हो सकते हैं। लेकिन इन वाद-विवादों (Cogitations) को अनुभूत सत्य (Realised Truth) का छद्मवेश धारण नहीं करना चाहिए। चरम अनुभूति सापेक्ष दृश्य जगत् को अस्वीकार कर सकता है। किन्तु जबतक हम मानस में सापेक्ष स्तर पर हैं, इस जगत का अस्तित्व है। जैसा कि श्रीरामकृष्णदेव कहा करते थे, "जबतक 'मैं' है, तबतक संसार है और और ईश्वर भी है।"

इसकी तुलना किसी वैज्ञानिक के जीवन से की जा सकती है जो इस संसार को अपनी प्रयोगशाला में केवल परमाणु-समूहों के रूप में प्रमाणित तो कर देता है लेकिन अपने दैनन्दिन जीवन में उसी प्रकार आचरण करता है जिस प्रकार अन्य लोग करते हैं। हमें ऐसे व्यवहार के आध्यात्मिक औचित्य से मतलब नहीं है, हमारे लिए केवल इतना ही जानना पर्याप्त होगा कि अनुभूति सम्पन्न लोगों और साधारण लोगों—दोनों के लिए यह जीवन का सत्य है। इसकी कोई अस्वीकृति आत्म-प्रवंचना है।

गीता का द्वादश अध्याय

स्वामी वेदान्तानन्द

रामकृष्ण मिशन आश्रम, पटना।

गीता के द्वादश अध्याय के प्रथम श्लोक में अर्जुन की जिज्ञासा यह है कि निर्गुण ब्रह्म के स्वरूप के अनुभव के आग्रही एवं सगुण ईश्वर के उपासनापरायण, इन दो श्रेणियों के साधकों में कौन श्रेष्ठ हैं। इस जिज्ञासा के उत्तर में २ से ५ श्लोकों में उक्त दोनों प्रकार की साधनाओं के अधिकारी की योग्यता एवं साधन पद्धति के विषय में प्रकाश डाला गया है। भक्तियोग के अधिकारी साधक, जो ईश्वर को सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् दयामय इत्यादि गुणयुक्त मानकर विश्वास करते हैं, वे यदि एकाग्रचित्त से देह और इन्द्रियादि के द्वारा किये गये सारे कर्मों और कर्मफलों को ईश्वर को समर्पण कर सर्वदा सभी अवस्थाओं में ईश्वर चिन्तन में अपने को निमग्न रख सकें तो वे भक्त ज्ञान पथालम्बी साधारण साधक की अपेक्षा श्रेष्ठ हैं।

इस अध्याय के ३ से ५ श्लोकों में निर्गुण ब्रह्म की साधना के अधिकार की योग्यता का निर्धारण किया गया है। शरीर एवं इन्द्रियग्राह्य विषयों के प्रति प्रबल आकर्षण रहने पर निर्गुण ब्रह्म के ध्यान में मनोनिवेश करना दुःसाध्य है। ब्रह्म नाम-रूप गुणक्रिया विहीन, एक अद्वितीय, सर्वव्यापी, मन और दृष्टि से अगोचर हैं—इस प्रकार के अनुभव के लिए साधक को सर्वतोभावेन संयमी, भेदबुद्धि से रहित एवं सभी प्राणियों के कल्याण

के साधन में तत्पर रहना पड़ेगा। दूसरी ओर, सगुण ईश्वर की उपासना हर प्रकार के व्यक्ति के लिए सम्भव है। इसी कारण से सगुण ईश्वर की उपासना को श्रेष्ठ कहा गया है।

श्लोक ६-७ में कहा गया है कि जो भक्तगण अनेक देवताओं की उपासना को छोड़कर अपने मन-प्राणों से ईश्वर की उपासना करते हैं, ईश्वर इस प्रकार के भक्तों का जन्म-मृत्यु जनित दुःख-भोग से त्राण करते हैं, अर्थात् उन्हें मुक्ति प्रदान करते हैं।

८वें श्लोक में भगवान-प्राप्ति का सर्वोत्तम उपाय निर्णीत हुआ है। मनुष्य का मन सर्वदा चंचल रहता है; एक पल के लिए भी किसी विषय में स्थिर नहीं रह पाता है। बुद्धि का कार्य है मन की इस चंचलता को नियमित करना—किसी भी विषय को स्थिरभाव से समझने तथा ग्रहण करने का निर्देश देना। किन्तु बुद्धि भी अनेक अवसरों पर भूल करती है। बुद्धि सहज ही शुद्ध नहीं होती। जिस साधक के मन में ईश्वर-चिन्तन के अतिरिक्त किसी अन्य विचार का उदय नहीं होता, जिसकी बुद्धि, ईश्वर-प्राप्ति को जीवन का एकमात्र उद्देश्य मानकर स्थिर हो गयी है, उसे शीघ्र ही भगवान् की प्राप्ति होती है।

जो साधक अपने मन-बुद्धि को सर्वतोभावेन ईश्वर में निविष्ट करने में असमर्थ हैं, उन सबके लिए भगवत्-प्राप्ति के साधन के रूप में द्वादश अध्याय के ९ से १२ तक चार श्लोकों में तीन विकल्प प्रस्तुत किये गये हैं। पहला साधन है अभ्यास योग, चंचल और विषयाभिमुखी मन को प्रयत्नपूर्वक ईश्वर के चिन्तन में निविष्ट करना। द्वितीय उपाय—ईश्वर की प्रीति-साधन के लिए विविध साधनों का अवलम्बन। व्रत, उपवास, पूजा, नाम-संकीर्तन आदि ये साधन हैं। तृतीय साधन है—कर्मफल का त्याग। पूजा, पाठ, जप, कीर्तन आदि शरीरसाध्य आराधना में जब मन स्थिर नहीं होता, उस अवस्था में ईश्वर की कृपा का प्रार्थी होकर 'सभी कार्य ईश्वर की इच्छा से परिचालित होकर करता हूँ' इस प्रकार के मनोभाव के द्वारा करना होगा; कर्म के फलस्वरूप अपने सुख या आनन्द-प्राप्ति की वासना का त्यागकर कर्म का फल ईश्वर को समर्पण करना होगा। इन तीन प्रकार की साधनाओं में से किसी एक का आन्तरिक भाव से अनुष्ठान कर पाने पर शान्ति लाभ अर्थात् जन्म-मरण रूपी दुःख से निवृत्ति होगी।

द्वादश अध्याय के अन्तिम आठ श्लोकों में ईश्वर के प्रिय भक्त के लक्षण बताये गये हैं। ये गुण पराभक्ति की प्राप्ति के साधन हैं—भक्त को यह बात सर्वदा मन में रखनी होगी। श्रेष्ठ भक्त किसी प्राणी से द्वेष नहीं करेंगे; सब के साथ बन्धुभावापन्न रहेंगे; उनके प्राणों में दया रहेगी; वे अपने को कर्त्ता या किसी विषय का अधिकारी अथवा किसी की भी अपेक्षा अपने को श्रेष्ठ नहीं समझेंगे; सुख की प्राप्ति पर उत्फुल्ल अथवा दुःख का कारण उपस्थित होने पर वे उद्विग्न नहीं होंगे एवं दूसरों के दोषों को क्षमा करेंगे। भक्त सभी अवस्थाओं में सर्वदा सन्तुष्ट प्रमाद रहित, संयत स्वभाव, ईश्वर के अस्तित्व एवं स्वरूप के सम्बन्ध में सन्देह रहित एवं 'ईश्वरानुभूति ही जीवन का एकमात्र लक्ष्य है' इस प्रकार के दृढ़ विश्वास से सम्पन्न होकर मन-बुद्धि से सर्वदा अपने को भगवत्-चिन्तन में लगाये रखेंगे।

भक्त किसी के भय का कारण नहीं बनेंगे। स्वयं भी भय नहीं करेंगे। किसी प्रकार के लाभ से उल्लसित नहीं होंगे। दूसरों के सुख-सम्पदा को देखकर ईर्ष्या नहीं करेंगे। भक्त भय एवं क्रोध से रहित होंगें। वे किसी विषय में किसी व्यक्ति का मुखापेक्षी नहीं होंगे। शरीर को साफ-सुथरा एवं परिष्कृत रखेंगे। मन में किसी प्रकार की कुचिन्ता को स्थान नहीं देंगे। पक्षपात रहित होंगे। किसी कारण से मानसिक कष्ट भोग नहीं करेंगे एवं मतलब साधने के लिए कोई कार्य नहीं करेंगे।

भक्त प्रीतिजनक कार्य होने पर उल्लसित अथवा अप्रीतिकर विषय में क्षुब्ध नहीं होंगे। वे किसी प्राप्त वस्तु के नष्ट होने पर चिन्ता नहीं करेंगें या किसी

अप्राप्त वस्तु को पाने की आकांक्षा नहीं करेंगे। वे किसी पाप कर्म में रत नहीं होंगे अथवा पुण्य की प्राप्ति के उद्देश्य से किसी कार्य में प्रवृत्त नहीं होंगे।

भक्त किसी व्यक्ति को शत्रु और किसी को भी मित्र नहीं मानेंगे। सब के प्रति वे समान व्यवहार करेंगे। किसी के भी द्वारा सम्मानित अथवा अपमानित होने पर उनके मन में कोई विकार उत्पन्न नहीं होगा। शीत, ग्रीष्म आदि प्राकृतिक परिवर्त्तन के समय या स्थान विशेष के अनुसार कम या अधिक होते हैं। स्वयं नहीं चाहने पर भी प्राय: प्रत्येक मनुष्य के जीवन में सुख या दु:ख की प्राप्ति के कारण उपस्थित होते हैं। भक्त इन परस्पर विरोधी अवस्था में से किसी के लिए कामना नहीं करेंगे। अथवा अप्रीतिकर अवस्था में पड़ने पर विषादग्रस्त नहीं होंगे। वे किसी विषय में आसक्त नहीं होंगे। निन्दा या प्रशंसा से उनके मन में कोई परिवर्त्तन नहीं होगा। वे अप्रयोजनीय बात नहीं बोलेंगे। जब जो पायेंगे उसीसे संतुष्ट रहेंगे। किसी वासस्थान को अपना नहीं मानेंगे। उनका विचार स्थिर रहेगा। जो भक्त उक्त साधनों के अनुशीलन द्वारा अपना जीवन परिचालित करेंगे वे श्रद्धावान एकनिष्ठ भक्त ईश्वर के विशेष प्रिय पात्र होंगे।

●

माँ सारदा-एक अनुशीलन

–श्रीमती हीरावाई बोरदिया

इन्दौर (म० प्र०)

श्री माँ सारदा का जीवन मानो एक बहुत बड़ा चित्रपट है; किन्तु यह सामान्य चित्रपट नहीं, अत: उसको देखने के लिए मात्र दो भौतिक चक्षु ही पर्याप्त नहीं अपितु, अन्तर्मन की आँखों की भी आवश्यकता है। और मन की आँखों से इस चित्रपट का सूक्ष्मतापूर्वक अवलोकन करने पर चलचित्र के दृश्यों की तरह अपनी समग्र जीवन्तता के साथ कई चित्र हमारे सामने उभर आते हैं। यद्यपि इन पर पूर्णतया प्रकाश डालना सामान्य मानव मनीषा के वश की बात नहीं की, किन्तु तब भी मैं उनके जीवन के विविध पक्षों से जुड़े इन विविध चित्रों में से कुछ पर प्रकाश डालने का प्रयास कर रही हूँ। माँ के चारित्रिक वैशिष्ट्य के विवेचनोपरान्त मुख्यत: तीन बिन्दुओं पर हमारा ध्यान जाता है। यथा—

(क) श्रीमाँ की ठाकुर पर असीम श्रद्धा एवं उनके प्रति एकनिष्ठ भक्ति एवं सर्वात्म समर्पण—श्रीमाँ सुदूर ग्रामांचल में माता-पिता के घर बड़ी हुई थीं। अल्पवय में ठाकुर के साथ विवाहोपरान्त दो-चार बार जयरामवाटी से कामारपुकुर और कामारपुकुर से जयरामवाटी आयी गयी थीं। पति का अत्यधिक सान्निध्य भी उन्हें प्राप्त नहीं हुआ था। किन्तु उन्होंने जब एक बार गाँव में सुना कि ठाकुर पागल हो गये हैं तो वे अत्यन्त व्याकुल होकर उन्हें देखने तथा उनके पास रहने के लिए अपने पिता और कुछ साथियों के साथ अनेक कष्टों को सहते हुए भी कलकत्ता आयीं। वहाँ उन्होंने नौबतखाने में रहना पसन्द किया, जो था तो ठाकुर के कमरे के पास ही, किन्तु वहाँ अत्यधिक असुविधाएँ थीं। बीस वर्ष अपने पति के साथ रहने पर भी वे जल में कमल के समान रहीं। माँ सारदा के चरित्र की यह विशेषता भारतीय नारी के त्यागमय चरित्र का परिचायक एवं आज की नारी के लिए प्रेरणा-

स्पद है। वे स्वयं तो पूर्णतया ठाकुर के प्रति समर्पित थीं ही साथ ही वे उनकी समस्त सुख-सुविधाओं का भी ध्यान रखती थीं। किन्तु इसके साथ ही वे उनके गृही व संन्यासी शिष्यों को भी अपने हाथ से बनाकर एक माँ की सम्पूर्ण ममता एवं स्नेहशीलता के साथ भोजन कराती थीं। अतः उनके जैसी स्नेहमयी माँ का प्यार पाकर क्या धनी, क्या निर्धन, क्या संन्यासी, क्या गृही, क्या पापी क्या पुण्यात्मा क्या आस्तिक क्या नास्तिक सभी धन्य हो जाते थे। वे न तो कभी किसी को पीड़ा पहुँचाना चाहती थीं, न दूसरों से ही ऐसा करवाती थीं। ठाकुर की महासमाधि के बाद वे अपने मन-मन्दिर में अपने स्वामी की महिमामयी मूर्त्ति को बसाये हुए अनन्य निष्ठा के साथ उनकी उपासना करती थीं।

(ख) भगवद्बुद्धियुक्त निष्काम एवं निरुद्विग्न कर्मरतता एवं अतुलनीय त्याग—शिव ज्ञान से जीव सेवा का मूर्त्तिमान स्वरूप थीं, श्री माँ सारदा। जीव सेवा को शिव सेवा मानना एवं आचरण में लाना ही उनके जीवन का लक्ष्य था। आज के जड़वादी वैज्ञानिक साधन सम्पन्न इस भौतिक संसार में मनुष्य अपने ईश्वरीय तेज एवं प्रकाश को देखने की बात कौन कहे, उसके लिए प्रयत्नशील भी नहीं होता। बल्कि इसके विपरीत अपनी अज्ञानता एवं अकर्मण्यता पर पर्दा डालने के लिए वह तथ्यहीन उक्तियाँ प्रस्तुत करता है और कहता है कि श्री माँ सारदा तो ऐसे वातावरण में रहती थीं जहाँ ठाकुर का प्रभाव था और सब कुछ कर पाना सम्भव था क्योंकि सब लोग उनकी बातों को मानते भी थे। हम तो वर्तमान युग की भौतिकवादी दौड़ में लगे हैं। किन्तु क्या श्री माँ प्राचीन युग की थीं। या उन्होंने कभी किसी से अपनी बातें मनवाने का प्रयास किया था? वे तो वर्तमान युग की ही उपज हैं और इसी युग में सहजता एवं सरलता के साथ रहकर जप, तप, ध्यान एवं निष्काम कर्म करती थीं। क्या उनके लिए युगीन समस्याएँ बाधक नहीं थीं? इस सन्दर्भ में हिन्दी के यशस्वी कवि एवं गीतकार नीरज की निम्नांकित पंक्ति—"कुछ कर गुजरने के लिए मौसम नहीं मन चाहिये" ध्यातव्य है। माँ सारदा का आचरण भी कुछ ऐसा ही था। उन्होंने ठाकुर से कभी किसी वस्तु की मांग नहीं की। इस सन्दर्भ में यहाँ एक कथा को उद्धृत कर देना अस्वाभाविक नहीं होगा। कथा इस प्रकार है—

एक राजा रानी सादगी के साथ कुटिया बनाकर जंगल में रहते थे। राजा राजकोष से पैसे न लेकर स्वयं के श्रम से उपार्जित कर जो लाता था, दोनों प्राणी उसी से सन्तोषपूर्वक जीवन यापन करते थे। रानी घर के समस्त कार्यों को स्वयं अपने हाथों से करती थी। यहाँ तक कि कच्चे सूत से पानी का मटका (घड़ा) भर कर लाती थी। एक बार नगर के बाहर एक मेला लगा। रानी भी अन्य महिलाओं के साथ मेले में गयी। कुछ परिचित महिलाओं ने रानी के प्रति आदर प्रदर्शित करते हुए अभिवादन किया। इसी समय जेवरों से लदी हुई एक महिला ने अभिवादन करनेवाली एक महिला से पूछा, "यह कौन है?" महिला ने आश्चर्य प्रकट करते हुए कहा, अरे तुम इन्हें नहीं पहचानती, ये अपने राज्य की रानी हैं।" आपादमस्तक आभूषणों से लदी उस औरत ने कहा—"अरे यह तो बहुत ही साधारण महिला दिखती है, कहीं से यह रानी तो नहीं प्रतीत होती।" रानी के हृदय में यह बात चुभ गयी। उसने अपने पति राजा से कंगन बनवाकर लाने को कहा। राजा ने रानी को बहुत प्रकार से समझाया किन्तु एक बार हृदय में उत्पन्न काँचन इच्छा क्या सहज ही समाप्त होती है। रानी अपनी मांग पर अड़ी रहीं। उसने राजा की एक न सुनी। अन्त में राजा ने राजकोष से रुपये लेकर रानी के लिए कंगन बनवाया। किन्तु इन रुपयों को लेने से, इस कांचनासक्ति के प्रभाव से रानी का आध्यात्मिक तेज लुप्त हो गया। इस तथ्य का रहस्योद्घाटन तब हुआ जब रानी कच्चे सूत से पानी भरने कुएँ पर गयी। सूत टूट गया, घड़ा डूब गया। मानो प्रभु से सम्बन्ध-विच्छेद होते ही मानव माया के कूप में ही डूब गया।

इस संदर्भ में सीता की कथा को उद्धृत करना भी अप्रासंगिक नहीं प्रतीत होता। शक्ति रूपा सीता, भारतीय नारियों की आदर्श सीता, आदर्श पत्नी की जीवन्त मूर्ति सीता के हृदय में भी सोने के मृग को देखकर उसे पाने की इच्छा उत्पन्न हुई थी और उन्होंने अपने पति श्रीरामचन्द्र से उसे लाने को कहा था। सीता की इच्छा से बाध्य होकर मर्यादा पुरुषोत्तम राम को उस स्वर्ण मृग को पाने के लिए उसका पीछा करना पड़ा और इसका परिणाम क्या हुआ यह सर्वविदित है। सीता के सन्तोष का अन्त होते ही उनका अपहरण हो गया। यद्यपि आध्यात्मिक मनीषी इस लोभ के पीछे राक्षसों के उन्मूलन का शुभ उद्देश्य बताते हैं। किन्तु मानवी सीता के चरित्र पर कालिमा तो लगी ही। सामान्य मानव कह तो सकता ही है कि सीता को लोभ ले डूबा। क्योंकि सामान्य मनीषा दिव्य-दृष्टि सम्पन्न नहीं होती। यदि हम उक्त दोनों कथाओं के प्रमुख चरित्रों 'रानी' और सीता से माँ सारदा की तुलना करें तो माँ का पलड़ा भारी पड़ता है। उन्होंने ठाकुर से कभी किसी वस्तु की मांग नहीं की। उन्होंने ठाकुर से पति का अधिकार तक नहीं माँगा। पति-पत्नी का सम्बन्ध आध्यात्मिक दृष्टि से भी अनैतिक नहीं होता किन्तु माँ की उधर रंचमात्र भी दृष्टि नहीं गयी। ठाकुर ने स्वयं भी तो कहा है, "अगर वही (माँ सारदा) ठीक न होती तो हो सकता है मैं गिर सकता था।" किन्तु माँ के लिए पति का सुख-ही-सुख, पति की इच्छा-ही-इच्छा थी। पति का आदर्श-ही-आदर्श था। पति-पत्नी के एकत्व का इससे उच्च उदाहरण सम्भवत: विश्व के इतिहास में भी प्राप्त न हो, जहाँ पति-पत्नी दैहिक दृष्टि से विलग होते हुए भी वाचा, मनसा, कर्मणा एक थे। और इसका श्रेय है श्रीमाँ को। माँ के त्यागमय एवं कामना-रहित चरित्र पर विचार करने पर ठाकुर की महासमाधि के बाद माँ द्वारा अपने अराध्यदेव से की गयी प्रार्थना पर विशेषरूप से ध्यान जाता है। ठाकुर के देहावसान के बाद माँ ने अश्रुपूरित नेत्रों से ठाकुर से प्रार्थना की थी—"हे अराध्यदेव, मुझे यह वरदान दो कि मैं दूसरों की निन्दा न करूँ और दूसरों के दोष न देखा करूँ।" कैसी है यह मांग, कितनी महान् अनासक्ति इसके पीछे अर्न्तनिहित है! न पति के जीवित रहते कोई मांग न मृत्यु के उपरान्त किसी कामना की वासना।

(ग) दूसरों के प्रति द्वेष बुद्धि एवं निन्दा के भाव का सर्वथा अभाव—श्रीमाँ के जीवनरूपी शब्दकोष में निन्दा और द्वेष इन दो शब्दों के लिए रंचमात्र भी स्थान नहीं था। पूरा संसार ही उनके लिए अपना था। तब वे निन्दा करतीं भी तो किसकी करतीं! उनके अंतिम शब्द थे—'कभी किसी की निन्दा नहीं करना। यह संसार अपना है। इसमें कोई अजनबी नहीं है।' क्या उनका यह उद्गार साधारण है? विश्व बन्धुत्व की भावना का आज के युग में हम जोर-शोर से प्रचार-प्रसार तो करते हैं किन्तु क्या उसे हम अपने जीवन में, अपने आचरण में लाने का प्रयत्न करते हैं? क्या यह आत्म-प्रवंचना नहीं है? हाँ, है तो। यही कारण है कि स्कूलों, कालेजों और विश्वविद्यालयों में शिक्षा प्राप्त आज का बुद्धिजीवी अपनी वाणी से उच्च आदर्शों का प्रदर्शन तो करता है, अपनी महानता का दिखावा तो करता है, अपनी उदारता का परिचय तो देता है किन्तु वास्तविकता क्या है? यदि हम कथित उच्चाभिव्यक्तियों के मूल में जायें तो वहाँ कोरमकोर शून्य ही प्राप्त होगा। आचरण में अपने कथन को उतारना उनके लिए लैटिन है और कर्म के नाम पर यह कोरमकोर शून्यानन्द है।

माँ सारदा ने तो "सर्वे भवन्तु सुखिनः, सर्वे सन्तु निरामया:" का पाठ नहीं पढ़ा था, न ही उन्होंने किसी विद्यालय, महाविद्यालय या विश्वविद्यालय में शिक्षा प्राप्त की थी, किन्तु उनके अन्तर में अखिल विश्व को अपना समझने का भाव कैसे आया और भाव ही नहीं बल्कि आचरण में, कर्म में परिणत भी हुआ। अन्यथा वे कैसे द्वेषबुद्धि विरहित होकर सबको अपना समझतीं?

उनकी इन्हीं विशिष्टताओं से प्रभावित होकर

स्वामी विवेकानन्द जैसे आध्यात्मिक और बौद्धिक शक्ति सम्पन्न संत एवं युगाचार्य ने कहा था—

"To me the mother's grace is a hundred, thousand times more valuable than father's : Mother's grace and her blessings are all paramount to me." अर्थात् "मेरे लिए माँ की कृपा पिता की कृपा की अपेक्षा सौगुना, हजारोंगुना अधिक मूल्यवान है : माँ की कृपा और आशीर्वाद मेरे लिए सर्वोपरि है।"

●

गतांक से आगे

स्वामी विवेकानन्द के संस्मरण

श्री मन्मथ नाथ गांगुली

अनुवादक—श्री विवेकानन्द यादव

डॉक्टर नन्दी :

कुछ समय के लिए उनके गुरुभाईगण इधर-उधर चले गये। वहाँ केवल स्वामजी रह गये जिन्होंने मेरी ओर मुड़कर अचानक बात करनी शुरू कर दी।

"अच्छा ! तो तुम इलाहाबाद में रहते हो न ! क्या तुम डॉक्टर नन्दी को जानते हो ! जब मैं झूसी में था तब उनके घर मधुकरी के लिए जाया करता था। उनसे मेरा अच्छा परिचय था।" डॉ० नन्दी श्री रामकृष्णदेव के भक्त थे। हम उन्हें चाहते थे और इसी सहज-बंधन के कारण हमलोगों की उनसे थोड़ी-बहुत जान-पहचान थी। जहाँ तक मेरी जानकारी है, डॉ० नन्दी ने श्री रामकृष्ण को देखा था। परन्तु मैं उन्हें इसलिए चाहता था कि वे व्यक्तिगत रूप से स्वामी विवेकानन्द से परिचित थे। उन्होंने हमसे कहा था कि श्री रामकृष्ण देव के प्रधान शिष्य स्वामी विवेकानन्द गंगा के उस पार परिव्राजक साधुओं के लिए बनी कुटिया में ठहरे थे। स्वामीजी उस समय परिव्राजक संन्यासी थे। ग्रीष्म-ऋतु थी, दिन में काफी गरमी पड़ती थी। प्राय; गर्म हवा बहती रहती थी जिसे स्थानी भाषा में लोग 'लू' के नाम से जानते हैं। उस प्रचंड गर्मी के दिनों में भी स्वामीजी एक मोटे कंबल का आधा भाग बहिर्वास के रूप में तथा शेष आधा भाग से शरीर के ऊपरी हिस्से को ढँकते थे। डॉ० नन्दी के घर वे नंगे पाँव ही आते- जाते थे। स्वामीजी शायद छः महीने या उससे कम समय तक झूसी में रहे थे।

स्वामीजी की माँ, भुवनेश्वरी देवी :

इस बार मैं अक्सर बेलुड़-मठ जाया करता था। सभी तरह के लोग, युवा एवं वृद्ध स्वामीजी के दर्शन के लिए बेलुड़ आते थे। परन्तु दिन के सभी समय स्वामीजी से मिल पाना आसान नहीं था। प्राय: वे अपने ही कमरे में रहते थे और उनके गुरुभाईगण भी शायद ही उनकी शान्ति को भंग करते थे। यह सभी को मालूम था कि वे प्राय: समाधिजात शान्ति के भाव में डूबे रहते

है और उस अवस्था में अपने मानसिक भाव से भिन्न विषयों पर वात करने में उन्हें अत्यंत कष्ट होता था। अत: रीति यही थी कि जब वे स्वेच्छा से ऊपरी मंजिल से नीचे उतर आते थे और लोग उन्हें बाहर देखते तभी उनसे बातें कर सकते थे या तभी बिना किसी प्रतिबंध के आगन्तुकों को उनके पास जाने दिया जाता था।

एक दिन प्रात:काल स्वामीजी की माँ उनसे मिलने आयीं। उनकी भव्य आकृति श्रद्धा और सम्मान के योग्य थी। वह मजबूत कद-काठी की लंबी भौंहें तथा विशाल सुंदर नेत्रों वाली महिला थीं। ऐसे ही नेत्रों को कविगण 'कमल नेत्र' की संज्ञा देते हैं। असाधारण रूप से वह शक्तिशाली व्यक्तित्व की स्वामिनी थीं जिस कारण, सभी उनके समक्ष बिना किसी आपत्ति के झुक जाते थे। इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि स्वामीजी ने भी इन गुणों को उनसे उत्तराधिकारी के रूप में प्राप्त किया था। उन्होंने पहली मंजिल के बरामदे पर जाकर एक ऊँची आवाज दी—'बिले' और तत्क्षण उनका प्रिय बालक कमरे से बाहर आ गया। वस्तुत: विश्व प्रसिद्ध स्वामी विवेकानंद अपनी माँ के समक्ष एक अल्प वयस बालक ही तो थे! वे भुवनेश्वरी देवी के साथ सीढ़ी से नीचे उतर आये और उद्यान-पथ पर भ्रमण करते हुए व्यक्तिगत विषयों पर बातें करने लगे।

अंतिम कुछ वर्षों में स्वामीजी जब कभी भी कलकत्ते में होते तो स्वयं अपनी माँ से मिल आते। जब बेलुड़ में होते तो कलकत्ता जाकर मिलते थे। किन्तु यदि वे संयोगवश एक-दो सप्ताह तक नहीं जा पाते तो वह स्वयं बेलुड़ आतीं और पारिवारिक मसलों पर स्वामीजी से राय-विचार लेतीं।

जापान से संदेशवाहक :

एक दिन चार बजे अपराह्न में एक जापानी संदेशवाहक स्वामीजी से मिलने बेलुड़ आया। उसे भीतर बरामदे के एक बेंच पर बैठने को कहा गया। स्वामीजी प्राय: वहीं पर अतिथियों से मिलते थे। उन्हें इस प्रमुख अतिथि के संबंध में सूचना दे दी गयी। किन्तु स्वामीजी के आने तक उन्हें कुछ देर प्रतीक्षा करनी पड़ी। यह बिल्कुल उनके मूड पर निर्भर करता था कि अमुक व्यक्ति से वे उसी समय मिलेंगे या किसी सुविधाजनक समय में, भले ही वह व्यक्ति कितना भी महत्वपूर्ण क्यों न हो! उस अवसर पर संदेशवाहक को कुछ अधिक देर तक प्रतीक्षा करनी पड़ी थी। क्योंकि जब स्वामीजी आये तब तक उनके संध्याकालीन भ्रमण का समय हो चला था। वे एक कुर्सी पर संदेशवाहक के निकट बैठ गये और दुभाषिया के सहारे वार्त्तालाप शुरू हुआ। औपचारिक अभिवादन के बाद संदेशवाहक ने अपना अभिप्राय प्रकट किया-"हमारे मिकादो जापान में आपके दर्शन के लिए आतुर हैं। उन्होंने मुझे आपके पास भेजा है और आपसे अनुरोध किया है कि आप अपनी सुविधानुसार जितना शीघ्र हो सके जापान आने का कष्ट करें। सारा जापान आपके श्रीमुख से हिन्दू धर्म के संबंध में जानने के लिए उत्सुक है।" स्वामीजी ने जवाब दिया, "अपने स्वास्थ्य की वर्त्तमान स्थिति में मैं सोचता हूँ कि मेरे लिए अभी जापान जाना संभव नहीं है।" संदेशवाहक ने कहा "तो क्या मैं आपकी अनुमति से मिकादो को यह सूचित कर दूँ कि जब आपका स्वास्थ्य ठीक हो जायगा तब आप वहाँ जायेंगे?" स्वामीजी ने कहा, "यह बहुत ही संदिग्धपूर्ण है कि अब यह शरीर शायद उस योग्य हो सके।" उस समय स्वामीजी मधुमेह रोग से पीड़ित थे। उनका शरीर बहुत दुबला हो गया था। जब मैं पहली दफा उनसे मिला था, तब वे उतने रुग्ण नहीं थे।

उसके बाद ही, मैं इलाहाबाद लौट गया। परन्तु शीघ्र ही मुझे कलकत्ता जाने का सुअवसर प्राप्त हुआ और मैं स्वामीजी के दर्शन की आशा से बेलुड़ गया। परन्तु मेरे लिए बेहद निराशा की बात हुई कि स्वामीजी उस समय किसी दूसरी जगह चले गये थे।

राखाल महाराज :

स्वामीजी के बाद राजा महाराज या राखाल महाराज ही संघ के प्रधान थे। मैं उनसे अच्छी तरह से

परिचित था; फिर भी मैंने उनको अपने-से थोड़ी दूर कटा-कटा-सा पाया। वे प्रायः अपने आध्यात्मिक भाव में डूबे रहते थे, इसलिए वे सरल एवं साधारण वार्त्तालाप के लिए अगम्य थे। मैंने उनकी महान् आध्यात्मिक उपलब्धि के संबंध में बहुत बातें सुनी थी। उन्हें प्रायः समाधि लगा करती थी जो मेरी समझ के बाहर की चीज थी।

औपचारिक अभिवादन के पश्चात मैं उनके समीप बैठा। वे कुछ समय तक शान्त बने बैठे रहे। मैं मन-ही-मन कुछ समस्याओं के बारे में सोच रहा था और उनकी सहायता से समाधान चाहता था। मैं कुछ बोला नहीं, सोचा यदि वे महान् दिव्यात्मा हैं तो बिना बताये सारी बातें जान जाएँगे। अचानक महाराज ने कहा, "मेरे साथ चलो, हम थोड़ा टहल आएँ।" अभी भी संध्या नहीं हुई थी। रास्ते के एक ओर मठ का प्रवेश द्वार था और दूसरी ओर गंगा नदी बहती थी। तब तक मंदिर नहीं बना था। कुछेक मकान ही बने थे। अधिकांश जगह खुली थी। कुछ पौधे एवं पेड़ थे। हमलोग उस द्वारा तक गये जो घाट की ओर ले जाता था; फिर हम लौट गये। इस तरह कुछ देर तक हम टहलते रहे और इस दौरान केवल राखाल महराज बोलते रहे। मेरे लिए आश्चर्य की बात यह हुई कि उन्होंने बारी-बारी से मेरी तीनों समस्याओं को सामने रखकर संतोषजनक ढंग से समाधान कर दिया। तब राखाल महाराज मुझको मठ के सामने वाले गंगा घाट पर ले गये और स्वयं एक सीढ़ी पर बैठ गये तथा मुझे भी बगल में बैठने के लिए कहा। मैं भी एक सीढ़ी नीचे उनके पवित्र चरणों के समीप बैठ गया। उस समय मैं श्रद्धा एवं भक्ति की भावना से आप्लावित था और मैंने अपने आपको उनके प्रति पूर्णतः समर्पित कर देना चाहा। इसलिए मैंने उनसे औपचारिक रूप से दीक्षा देने के लिए प्रार्थना की। वे कुछ क्षण मौन रहकर धीरे से बोले, "मैं तुम्हारा गुरु नहीं हूँ, तुम्हारे गुरु हैं विवेकानन्द"। इस बात ने उनसे दीक्षा प्राप्त करने की आशा को सदा के लिए शमित कर दिया क्योंकि मैं जानता था कि स्वामीजी ने केवल कुछ ही चुने गए लोगों को दीक्षा दी है। उनका शिष्य बन पाना मेरे लिए स्वप्न की बात थी, जो कभी भी वास्तविकता में बदलने वाली न थी। इसलिए मैं अत्यंत निराश हो गया और कुछ ही दिनों में इलाहाबाद लौट आया।

भावस्थिति के भाव में स्वामीजी :

अगली बार जब मैं बेलुड़ गया तो स्वामीजी के स्वास्थ्य में कुछ उन्नति हुई सी लगी और वे प्रसन्न वदन थे। उस दिन प्रातः काल मैं बेलुड़ गया था। किसी ने मुझे बताया कि स्वामीजी श्री रामकृष्ण के पूजागृह में हैं। मैं सीढ़ी से होते हुए ऊपर गया और देखा कि स्वामीजी आध्यात्मिक भाव में आरूढ़ हैं। वे पूजा गृह के बरामदे पर एक छोर से दूसरे छोर तक तेज कदमों से टहल रहे थे। उनके हाथ आजू-बाजू झूल रहे थे। और कभी वे उसे छाती पर बाँध लेते जैसी कि उनकी आदत थी। वे काफी तेज चल रहे थे। उनकी चाल में एक उतावलापन, एक झटक महसूस हो रही थी। तीव्र भावावेश के कारण उनकी मुखाकृति लाल हो गयी थी जिसे वे दबाने का असफल प्रयास कर रहे थे। फिर वे अचानक रुक गये और दरवाजे के बाहर आकाश की ओर तीव्र दृष्टि से देखने लगे तथा किसी अन्य आत्मा से आवेशित व्यक्ति की तरह दोनों हाथ ऊपर उठाकर भीषण स्वर में गरज उठे, "मैं चन्द्र और सूर्य को अपनी कक्षा में घूमने से रोक सकता हूँ।" और तभी जैसे कुछ नहीं हुआ हो, मेरी ओर देखने लगे तथा मेरा नाम लेकर मुझे बुलाया। कुछ ही क्षण पूर्व मैंने उन्हें लगातार स्पष्ट स्वर में गुनगुनाते हुए सुना : 'गर्जन्तं राम रामेति, ब्रुवन्तं राम रामेति।" फिर उनका मन पूर्णतः अन्तर्मुखी हो गया। वे बहुत बेचैन से लगे, मानो वे अपने आदर्श राम-जानकी के समक्ष पहरा दे रहे हों। वे श्रीरामकृष्ण के प्रति पूर्णतया समर्पित आत्मा की तरह प्रतीत हुए, किन्तु उनकी इच्छा शक्ति विस्फोटक संभावना से भरी हुई थी और वे प्रभु के लिए असंभव को भी संभव करने के लिए कृतसंकल्प थे।

महापुरुषों का ध्यान

—स्वामी ब्रह्मेशानन्द
रामकृष्ण मिशन सेवाश्रम
वाराणसी।

महापुरुषों का ध्यान

सन्त महापुरुषों, अवतारों, देवी-देवताओं तथा परमेश्वर के प्रतीक साकार मानवी विग्रहों का ध्यान सबसे अधिक प्रचलित, उपयोगी एवं सहज है। पंतजलि ने 'वीतराग विषयं वा चित्तम्' सूत्र द्वारा इसी की ओर संकेत किया है। इस ध्यान को प्रारम्भिक साधक से लेकर उच्चकोटि के साधक, सभी कर सकते हैं। हमारा स्थूल अप्रशिक्षित मन स्वभावतः चिन्तन के लिए स्थूल रूप एवं विषय चाहता है। अतः इसे ध्यान के लिए पुष्प, प्राकृतिक दृश्य आदि मात्र भौतिक प्रत्यय प्रदान करने के बदले किसी इष्ट देवता, संत अथवा अवतारी महापुरुष का विग्रह क्यों न प्रदान किया जाय, जिसमें भौतिक रूप के साथ-ही-साथ दैवी सद्गुण एवं चैतन्य सत्ता भी विद्यमान है, जिनका ध्यान मन पवित्र एवं प्रशिक्षित होने पर कर सकेगा। यह ध्यान रूप-ध्यान से प्रारम्भ होकर गुण-ध्यान से होकर बढ़ता है, तथा अन्त में स्वरूप-ध्यान में परिणत हो जाता है।

इष्ट का चयन

सर्वप्रथम किसी भी दैवी विग्रह अथवा सिद्ध महा-रुष को इष्ट के रूप में चुनना पड़ता है। जिस ईश्वरीय यक्ति विशेष में साधक को सबसे अधिक श्रद्धा, आदर वं प्रेम हो उसी को इष्ट के रूप में चुनना चाहिए। ाभाविक रूप से ही परम्परानुसार कुल अथवा परिवार जिस देवता की अराधना होती रही है, उसी के प्रति सबसे अधिक आकर्षण एवं अपनत्व का भाव सम्भव है। लेकिन यह अनिवार्य नहीं है। शिवोपासक कुल में जन्मे व्यक्ति में भी विष्णु के प्रति अधिक आकर्षण संभव है। फिर वाह्य वातावरण एवं परिस्थिति का भी प्रभाव मन पर पड़ता है। शिवोपासक कुलोत्पन्न युवक की रामकथा श्रवण एवं राम भक्तों के संग से राम में भी भक्ति उपज सकती है। ऐसे में एक इष्ट निर्धारण कठिन हो जाता है। आधुनिक काल में तो यह समस्या और भी जटिल हो गयी है। एक तो कुल परम्पराएँ क्षीण हो गयी हैं, और दूसरे भौतिकवाद के प्रभाव से देवी-देवताओं में आस्था कम हो गयी है। अगर यह आकर्षण बना हुआ भी हो तो युग की उदारवादी विचारधारा के कारण किसी एक विग्रह के प्रति विशेष आकर्षण के बदले राम, कृष्ण बुद्ध, महावीर सभी के प्रति व्यक्ति समान आकर्षण का अनुभव करता है।

इन परिस्थितियों में इष्ट का चुनाव ऐसे अनुभवी सद्गुरु पर छोड़ा जा सकता है जो व्यक्ति के मन की गहराई में पैठने में समर्थ हों तथा जिनमें व्यक्ति की आस्था भी हो। सद्गुरु द्वारा इष्ट निर्देश प्राप्त करना सबसे श्रेष्ठ है। इसके अभाव में साधक स्वयं किसी एक दैवी विग्रह या सिद्ध महापुरुष को चुन लें। वस्तुतः सभी दिव्य महापुरुष एक परमात्मा के ही अंश है। स्वयं के इष्ट को ही सर्व-देव-देवी स्वरूप मानकर उसी में दृढ़ मति बनाये रखने से नाना इष्टों की समस्या समाप्त हो सकती है।

अगर एक इष्ट विशेष का चयन फिर भी संभव न हो तो एक से अधिक को (ध्यान के लिए) ग्रहण कर ध्यान प्रारम्भ किया जा सकता है, इस आशा से कि अन्त में अनेक में से एक इष्ट के प्रति अधिक अनुराग उपजेगा। आज राम का ध्यान करें, कल कृष्ण का, परसों बुद्ध का, लेकिन यह सदा स्मरण रहे कि तीनों एक ही परमात्म सत्ता के रूप हैं, स्वरूपत: एक दूसरे से पृथक नहीं है। ऐसा करते हुए भी यह याद रखना चाहिये कि यह कोई प्रमाणित (Standard) पद्धति नहीं है बल्कि केवल बाध्यता के कारण एक विकल्प के रूप में सुझायी गयी है। अन्ततोगत्वा साधक को किसी एक इष्ट का चयन करना ही होगा। हाँ, नाना सांसारिक विषयों के चिन्तन के बदले नाना दैवी महापुरुषों का चिन्तन अवश्य श्रेष्ठकर है। तथा यह भी सत्य है कि अपने इष्ट का चरम साक्षात्कार होने पर साधक यह भी अनुभव करेगा कि एक ही परमात्मा ने उसके इष्ट एवं अन्य देवी-देवताओं का रूप ग्रहण किया है।

अगर किसी भी प्रकार इष्ट निर्धारण न हो सके तो ज्योति ध्यान किया जा सकता है जो आधुनिक मन को अधिक रुचता है।

रूप ध्यान

इष्ट निर्धारण के बाद सर्वप्रथम रूप ध्यान किया जाता है। मान लें, किसी के इष्ट श्रीकृष्ण हैं। अब प्रश्न यह है कि वह श्रीकृष्ण के किस रूप विशेष का ध्यान करे? श्रीकृष्ण के तो अनेक रूप हैं: बाल-गोपाल, माखन-चोर श्रीकृष्ण, कालिया-मर्दन करते हुए श्रीकृष्ण, गोपियों के साथ रासलीला करते श्रीकृष्ण—श्रीमद् भागवत् में तो भगवान् श्रीकृष्ण के बहुत से रूपों का विस्तृत वर्णन है। एक ही श्रीकृष्ण के होते हुए भी उनमें रूप का पार्थक्य तो है ही, साथ ही विभिन्न रूप भिन्न भावों के भी अभिव्यंजक हैं। आखिर इनमें से किसे अपने इष्ट अथवा ध्यान के प्रत्यय के रूप में चुनें?

लीला चिन्तन—इस समस्या का समाधान भी प्राय: गुरु ही कर देते हैं। यदि यह संभव न हो, तो प्रारंभ में अपने इष्ट की सम्पूर्ण जीवन-लीला का चिन्तन किया जा सकता है। कारागार में श्रीकृष्ण का जन्म, वृन्दावन में बाल-लीला के विभिन्न दृश्य, कंस वध, जरासंध के भय से पलायन, कालयवन का संहार करवाना, द्वारका लीला, गीता गायन, एवं लीला संवरण—इन विभिन्न दृश्यों को क्रम से एक के बाद एक मन में उठावें। क्रमश: मन स्वयं अपनी अभिरुचि के श्रीकृष्ण को चुन लेगा।

श्रीरामकृष्ण के भक्त के लिए श्रीरामकृष्ण के जीवन के एक दिन की घटना का चिन्तन करना आसान होगा। श्रीरामकृष्ण वचनामृत में मास्टर महाशय ने विस्तारपूर्वक श्रीरामकृष्ण की गतिविधियों का, उनके वार्तालाप, भजन, कीर्तन, भावोन्माद एवं नृत्य आदि का वर्णन किया है, जो इस चिन्तन में साधक को बहुत उपयोगी सिद्ध होगा। सोचे कि वह भक्त-मंडली सहित श्रीरामकृष्ण के कमरे में, चटाई पर बैठा है, छोटी खाट पर श्रीरामकृष्ण बैठे उपदेश दे रहे हैं। कुछ देर बाद एक भक्त भजन गाने लगते हैं, जिसे सुनकर श्रीरामकृष्ण समाधिस्थ हो जाते हैं—साधक श्रीरामकृष्ण को अपने सामने बैठे समाधिस्थ होते कल्पना करे। अब श्रीरामकृष्ण उठकर नृत्य करने लगते हैं। साधक भी भक्तों के साथ उनको घेर कर नृत्य करता है—पर दृष्टि श्रीरामकृष्ण पर ही निबद्ध रहे। कीर्तन समाप्त होता है—अब श्रीरामकृष्ण पंचवटी की ओर जा रहे हैं। साधक भी उनके साथ जा रहा है—इत्यादि।

राम-नाम संकीर्तन की सहायता से ध्यान—

दक्षिण भारत में तथा रामकृष्ण मिशन के सभी केन्द्रों में प्रति एकादशी को राम-नाम-संकीर्तन होता है, जिसमें राम-लीला का, अष्टोत्तरशत (१०८) नामों में गान होता है। 'शुद्ध ब्रह्म परात्पर राम से प्रारंभ होकर भगवान् के जन्म, ताड़का वध, स्वयंवर, वन गमन,

वालिवध, रावण वध आदि घटनाओं के वर्णन के बाद 'नित्यानन्द-पद-स्थित-राम' में यह लीला वर्णन समाप्त होता है। मधुर सुर, ताल एवं लयबद्ध इस गान से मन आसानी से शान्त हो जाता है, और साधक गान के साथ-साथ ध्यान भी कर सकता है। शेष अध्यायों भगवान्, जिनकी अर्चना देवता कर रहे हैं; वे ही दशरथ-नन्दन के रूप में अवतीर्ण हुए हैं तथा कौशल्या को आनन्द प्रदान करते हुए घुटनों के बल चल रहे हैं। अगले ध्यान में विश्वामित्र भगवान् को वन ले जा रहे हैं। भगवान् ताड़का वध कर रहे हैं; अहिल्या का पाप-मोचन कर उसका उद्धार कर हैं इत्यादि।

उपर्युक्त तीन प्रकार के लीला-चिन्तन को एक प्रकार की धारणाएँ कहना उचित होगा क्योंकि इसमें साधक अपने मन को इष्ट से सम्बन्धित देश विशेष में बाँध कर रखता है। अन्त में साधक को अपने इष्ट के किसी एक रूप विशेष का चयन करना होगा जिसका वह हृदय पद्म में ध्यान कर सके। लक्ष्य उस एक चैतन्य आनन्दमय सत्ता तक पहुँचना है, जो नाना रूप धारण कर लीला कर रही है। कौशल्या का सुखवर्धन करने वाले राम, तथा ताड़का का वध करने वाले राम के रूप, क्रिया, भावों में पार्थक्य होते हुए भी वे एक राम के ही हैं। किसी एक रूप व भाव का आश्रय लेकर अन्त में भाव एवं रूपादि से अतीत चैतन्य आनन्दमय राम की सत्ता तक पहुँचना साधक का लक्ष्य है।

वस्तुतः धारणा, ध्यान और समाधि, चित्तैकाग्र की एक प्रक्रिया के तीन अंग हैं, जिन्हें एक-दूसरे से पृथक करना कठिन है। इन तीनों को एकत्र रूप में 'संयम' कहा जाता है। इष्ट के लीला चिन्तन-रूप धारणा से प्रारंभ कर, उनके रूप विशेष का ध्यान करते हुए, उस रूप के पीछे की वास्तविक चैतन्यमय सत्ता, अथवा भाव का साक्षात्कार रूप समाधि लाभ करना ही साधना का लक्ष्य है।

एक और समस्या जो साधक के सामने आती है, वह यह है कि इष्ट का पूरा रूप ध्यान में नहीं आता। कभी मुख आता है, तो चरण नहीं आते। कभी चरण आते हैं तो मुख नहीं इत्यादि। इस समस्या के समाधान के लिए कुछ दिनों तक इष्ट के चित्र को अपने सम्मुख रखकर (ध्यान के समय) नेत्र खोलकर प्रतिदिन १०-१५ मिनट तक देखना चाहिए, जिससे उनकी छवि मन पर अच्छी तरह अंकित हो जाए।

इष्ट को मात्र चित्र या मूर्ति के बदले ज्योतिर्मय, आनन्दमय एवं चैतन्य सोचने का प्रयत्न करना चाहिये। यह सोचें कि वे जीवन्त हैं— ठीक हमारी ही तरह चैतन्य, जीवन्त बल्कि हमसे कहीं अधिक ज्योतिर्मय। इस धारणा की सुविधा के लिए ऐसा सोचा जा सकता है कि ब्रह्म ज्योति सर्वत्र विद्यमान है। वही घनीभूत होकर हमारे इष्ट का रूप धारण करती है। ध्यान में इष्ट के ज्योतिर्मयत्व तथा चैतन्य-स्वरूपत्व को सदा अधिक महत्व देना चाहिये।

गुण-ध्यान

महापुरुषों के रूप ध्यान के बाद की सीढ़ी है गुण ध्यान। करुणा, दया, निरहंकारिता, पवित्रता, स्थित-प्रज्ञता आदि सद्गुणों का अमूर्त, सूक्ष्म रूप में ध्यान नहीं किया जा सकता, कम-से-कम प्रारम्भ में। उन्हें हम महापुरुषों के जीवन की घटनाओं में अभिव्यक्त होने पर ही समझ सकते हैं। यथा बुद्धदेव की करुणा का ध्यान करने के लिए हमें उस घटना का ध्यान करना होगा जब वे एक भेंड़ को बलि से बचाने के लिए स्वयं को बलि देने के लिए तत्पर होते हैं। लेकिन उनके दृढ़ संकल्प का ध्यान करने के लिए उनके एक-दूसरे रूप का अवलम्बन लेना होगा, जब वे बोधिवृक्ष के नीचे :

इहासने शुष्यतु मे शरीरं त्वगस्थिमांसं प्रलयं च यातु।
अप्राप्य बोधिं बहुकल्प दुर्लभाम् नैवासनात् कायमतः चलिष्ये॥

अर्थात् इस आसन पर मेरा शरीर सूख जाय, और चर्म, अस्थि, मांस नष्ट हो जायें, लेकिन बहुकल्प दुर्लभ

बोधि प्राप्त किये बिना इस आसन से मेरा शरीर नहीं हिलेगा। भगवान् श्रीकृष्ण का पार्थसारथी रूप उनकी स्थितप्रज्ञता एवं अनासक्ति का द्योतक है, जब वे दोनों सेनाओं के बीच अर्जुन के सम्मिलित होने पर भी स्वयं किंचितमात्र भी सम्मिलित नहीं होते। श्रीरामकृष्ण के त्याग का ध्यान करना हो तो, उस घटना का चिन्तन करना होगा जब नरेन्द्र उनके आसन के नीचे एक रुपया रख देते हैं, और श्रीरामकृष्ण अनजाने में उस पर बैठते ही पीड़ा से कराहकर उछल पड़ते हैं। लेकिन उनके प्रेमानन्दमय रूप के ध्यान के लिए उनके कीर्तन में समाधिस्थ रूप का ध्यान करना होगा। इसी प्रकार माँ सारदा की पवित्रता का, तीर्थंकर महावीर की क्षमा एवं सहिष्णुता का, हनुमान की रामभक्ति का, घटनाओं की सहायता से ध्यान किया जा सकता है। घटनाओं के साथ संयुक्त गुण अथवा भाव-विशेष से परिचित एवं अभ्यस्त होने पर घटना अथवा रूप के ध्यान को गौण रखकर गुण पर मन को अधिक एकाग्र किया जा सकता है।

इस गुण ध्यान का संकेत पंतजलि 'वीतराग विषयं वा चित्तम्' सूत्र में देते हैं। वीतराग महापुरुषों के चित्त का, अर्थात् उनकी निष्काम राग-द्वेष-रहित शान्त मन:स्थिति का ध्यान।

इसे साधने के कुछ उपाय टीकाकारों ने बताये हैं :

(१) सौभाग्य से यदि किसी वीतराग महापुरुष के संग में रहने का अवसर मिले तो उनका निश्चिन्त, निर्लिप्त, इच्छाशून्य भाव लक्ष्य कर उसे बनाये रखने का प्रयत्न करना चाहिये।

(२) दूसरा उपाय यह है कि ईश्वर के चित्त की कल्पना करके उसमें अपने चित्त को स्थापित करने का प्रयत्न करें। यथा शिव के शान्त इच्छारहित चित्त की अथवा माँ अन्नपूर्णा के सदापूर्ण नित्यानन्दकारी चित्त की कल्पना कर उसमें अपना चित्त लगाने का प्रयत्न करें।

(३) अपने चित्त को राग द्वेष एवं संकल्प विहीन करने का प्रयत्न करना, और यदि कभी स्वयं ऐसी अवस्था का अनुभव हुआ हो तो उसे चित्त में बनाये रखने का प्रयत्न करना।

(४) एक कार्य और भी किया जा सकता है : स्वयं को ही बुद्ध, महावीर अथवा अपना इष्ट सोचकर ध्यान करें। वस्तुत: स्वरूपत: हम और इष्ट दोनों एक ही हैं। अत: इस प्रकार के ध्यान में कोई दोष नहीं है, बल्कि कुछ लोगों के लिए यह बहुत उपयोगी सिद्ध हो सकता है।

यह आवश्यक नहीं है कि घटना-विशेष का अवलंबन लेकर इष्ट के किसी गुण-विशेष का ध्यान प्रयत्नपूर्वक किया जाय। वे तो अनन्त सद्गुणों की खान हैं। उनके किसी भी एक रूप के ध्यान के प्रगाढ़ होने पर उनके गुण अपने-आप प्रकट होंगे। यह हो सकता है कि एक भक्त सर्वप्रथम इष्ट की करुणा के ध्यान की ओर अग्रसर हो, जबकि दूसरा भक्त उनकी निष्कामता की ओर। रुचि-भेद एवं मानसिक गठन के भेद से इतना अन्तर होना स्वाभाविक है।

ध्यान के विषय को विस्तार से प्रारम्भ कर उसक संकोच करने की विधि का रोचक एवं अत्यन्त उपयोग वर्णन विभिन्न शास्त्रों में पाया जाता है। जैन ध्यान पद्धति में चैतन्य के ध्यान तक पहुँचने के लिए स्थू धारणाओं से प्रारम्भ कर सूक्ष्म की ओर अग्रसर होने क एक सुन्दर प्रक्रिया निम्न प्रकार पायी जाती है।

साधक सर्वप्रथम एक हजार योजन लम्बे एवं उत ही चौड़े विशाल क्षीर सागर की कल्पना करे। उस बीच में एक सौ योजन ऊँचे मेरु पर्वत की कल्पना क जिसके शिखर पर एक रत्न-जड़ित सिंहासन है सिंहासन पर एक सहस्रदल पद्म है, जिस पर सा स्वयं एक महायोगी की तरह ध्यान कर रहा है। पार्थिवी धारणा कहलाती है। इस धारणा में बार- के अभ्यास से प्रतिष्ठित होने पर साधक अगली धा

आग्नेयी, का अभ्यास करता है। सहस्रदल पद्म पर आसीन साधक सोचे कि उसके हृदय में एक काले रंग की पंखुड़ियों वाला अधोमुखी अष्ट दल पद्म है। इसके नीचे नाभि में एक उर्ध्वमुखी रक्त वर्ण पद्म है जिसके वीच में 'ह्रीं' बीज मंत्र लिखा है। अव सोचो कि इस वीज मंत्र से धूमरहित अग्नि प्रज्जवलित हो रही है जो ऊपर वाले अधोमुखी पुष्प को जो आठ प्रकार के कर्म वन्धनों का प्रतीक है, जला रही है। अव दीप शिखा मस्तक तक जाकर दो भागों में विभक्त हो दोनों ओर से घूमती हुई नीचे की ओर आ रही है। इससे साधक के सूक्ष्म एवं स्थूल शरीर दोनों भस्म हो रहे हैं तथा केवल विशुद्ध आत्मा वच गयी है। इसके वाद वाली मारुति धारणा में यह सोचा जाता है कि प्रलय मरुत वह रही है जिसने आत्मा पर आग्नेयी धारणा के वाद वची राख को उड़ा दिया है।

अगली वारुणि धारणा में कल्पना की जाती है कि आकाश मेघाच्छन्न हो रहा है, फिर धीरे-धीरे और वाद में जोर से वर्षा हो रही है। इससे विशुद्ध आत्मा पर मारुति धारणा के वाद वची भस्मीभूत कर्मों की राख धुल गयी है और आत्मा पूर्ण रूप से निर्मल हो गयी है। इस विशुद्ध आत्मा का ध्यान करो।

ध्यान के संकोच की एक प्रणाली विष्णु पुराण में पायी जाती है। सर्वप्रथम शेषशय्याशायी, लक्ष्मी द्वारा पाद सेवा करवाते, शंख, चक्र,गदा पद्मधारी सर्वालंकार सुशोभित चतुर्भुज भगवान् विष्णु का ध्यान करे। इस ध्यान में प्रतिष्ठित होने पर चतुर्भुज लेकिन शंखादि रहित, भगवान का ध्यान करें, उसके वाद अलंकारादि रहित केवल द्विभुज रूप का। अन्त में भगवान् की निराकार चैतन्य सत्ता मात्र का ध्यान करने का प्रयत्न करे।

ज्योति ध्यान—

ज्योति अथवा प्रकाश को चैतन्य एवं ज्ञान का प्रतीक माना गया है। चूंकि चैतन्य अथवा ज्ञान जैसी अति सूक्ष्म एवं दुरूह वस्तुओं का ध्यान करना प्रारंभ में सम्भव नहीं है, अतः ज्योति का ध्यान किया जाता है। स्वामी विवेकानन्द ने "विशोका वा ज्योतिष्मती" इस पांतजल सूत्र की व्याख्या में लिखा है : हृदय में कमल की कल्पना करो, जिसकी पंखुड़ियाँ अधोमुखी हैं। उसके वीच सुषुम्ना नाड़ी की कल्पना करो। रेचक करते समय सोचो कि कमल उर्ध्वमुखी हो रहा है। इस उर्ध्वमुखी कमल के वीच महाज्योति विद्यमान है। उसका ध्यान करो।'

अन्य ध्यान—

सिर के ऊपर एक कमल की कल्पना करो जिसके केन्द्र में पवित्रता है, और ज्ञान डंठल। आठ पंखुड़ियाँ योगी की अष्ट सिद्धियों की प्रतीक हैं। भीतर पुंकेसर तथा स्त्रीकेसर त्याग है। इसका अर्थ है कि अष्टसिद्धियों के भी त्याग से परमात्मा मिलते हैं। इस कमल के भीतर उस ज्योतिर्मय सर्वशक्तिमान् परमात्मा का ध्यान करो।

हृदय कमल में शोकरहित, धूमरहित, ज्योतिशिखा का ध्यान करो। यह मानो हमारी आत्मा है। जिस प्रकार एक दीप शिखा के वाहरी हिस्सों के भीतर एक और श्वेत अंश रहता है, उसी तरह हृदयस्थ ज्योति के भीतर भी एक श्वेत अंश का चिन्तन करो—जो हमारी आत्मा की भी आत्मा—परमात्मा है।

हृदयाकाश में एक छोटे किन्तु तेजस्वी ज्योति पुंज की कल्पना करेंगे। सोचो, कि वह धीरे-धीरे वढ़ रहा है, एवं वढ़ते-वढ़ते उसने समस्त हृदयाकाश को व्याप्त कर लिया है। अव सोचो कि वह और वढ़ रहा है, तथा समग्र देह में व्याप्त हो गया है। अव वह बढ़ते-बढ़ते समस्त ब्रह्माण्ड को परिव्याप्त कर रहा है।

हमारी आत्मा ज्योतिर्मय है, इसका हृदय में ध्यान करो। फिर सर्वत्र वर्तमान ब्रह्मज्योति की कल्पना करो। अव आत्मा की ज्योति को ब्रह्म की ज्योति में विलीन करने का प्रयास करो।

५०० वीं जयन्ती के अवसर पर

प्रेम के परिजात पुष्प : श्रीचैतन्य महाप्रभु

—डॉ० केदारनाथ लाभ

श्री चैतन्य महाप्रभु अखंड प्रेम रस के एक अनाविल पारिजात पुष्प थे। उनका आविर्भाव बंगाल में उस समय हुआ था जब सारा देश इतिहास के गहनतम अंधकार के दौर से गुजर रहा था। बंगाल की धार्मिक स्थिति अत्यन्त दयनीय थी। सारा उत्तरी भारत भिन्न धर्म और संस्कृति वाले विदेशियों के निरंतर आक्रमण से आक्रान्त हो चुका था। स्वभावत: हिन्दुओं के जीवन में अवनति आ गयी थी। समाज में असुरक्षा का भाव उत्पन्न हो गया था। संस्कृतविद्या, विशेषत: व्याकरण एवं न्याय का साधना क्षेत्र बंगाल सांसारिकता के व्यामोह में उलझ गया था। कट्टरपंथी ब्राह्मणों का समाज में वर्चस्व था। गरीबों और अछूतों के सामाजिक उत्पीड़नों की सीमा नहीं थी। हिन्दुओं के बीच साधना और आराधना के विकृत रूपों तथा तांत्रिक दर्शन और साधना के कुत्सित प्रयोगों का बहुत तेजी से प्रचलन बढ़ रहा था। समाज पर तंत्र का व्यापक प्रभाव फैल रहा था। ब्राह्मण सांसारिक विषय-कर्मों में न्यस्त हो गये थे। धर्म के मूल भाव से वे च्युत हो गये थे। ऐसे ही तिमिराच्छन्न काल में बंगाल में एक ऐसे महापुरुष का अवतरण हुआ जिसने अपने प्रखर ज्ञान, असीम प्रेम और करुणा तथा शुद्धाभक्ति की विमल तरंग से सारे भारत को आप्लावित कर दिया। उस परमपुरुष का नाम था—श्री चैतन्य महाप्रभु।

महाप्रभु चैतन्य का आविर्भाव आज से ठीक ५०० वर्ष पूर्व सन् १४८५ ई० के फरवरी (फाल्गुन) महीने में नवद्वीप में हुआ था। वह दोल-यात्रा का पावन दिन था। एक चन्द्रग्रहण से संसार को उस दिन मुक्ति मिली थी। लोग गंगा स्नान और भजन-कीर्तन में लीन थे। शंखध्वनि और हरिनाम की पवित्र ध्वनि से वातावरण अनुगुंजित हो रहा था। लगता था एक अवतार के आगमन के उपलक्ष में स्वागत की जयध्वनि गूंज रही है। और तभी श्रीचैतन्य महाप्रभु का अवतरण हुआ।

महाप्रभु चैतन्य के पिता का नाम जगन्नाथ मिश्र और माता का नाम शची देवी था। वे श्रीहट्ट (सिलहट) के मूल निवासी थे। उनकी आठ पुत्रियाँ शैशव अवस्था में ही काल के गाल में समा गयी थीं और नौवीं संतान बालक विश्वरूप ने आगे चलकर संसार का परित्याग कर संन्यास ले लिया। चैतन्य के नाना प्रख्यात ज्योतिषी थे। उनके परामर्शानुसार नवजात शिशु का नाम विश्वम्भर रखा गया। उन्होंने पहले ही घोषणा कर दी थी कि भविष्य में यह बालक ईश्वर के अवतार के रूप में लोगों द्वारा पूजित होगा। नीम वृक्ष के निकट जन्म लेने के कारण विश्म्भर को माँ निमाई कह कर पुकारती थी। अति सुन्दर गौर वर्ण के होने के कारण पड़ोसी इसे 'गौर हरि' के नाम से सम्बोधित करते थे।

पाँचवे वर्ष में निमाई की पाठशाला में भर्ती की गयी। वहाँ थोड़े ही दिनों में उन्होंने बंगाला सीख ली। आठ वर्ष की उम्र में निमाई का नामांकन गंगादास पंडित के टोल (विद्यालय) में किया गया। तीन वर्षों में ही वे संस्कृत व्याकरण, अलंकार शास्त्र, स्मृति और न्याय में पारंगत हो गये। जब वे दस वर्षों के थे तभी उनके बड़े भाई विश्वरूप ने गृह-त्याग कर संन्यास ग्रहण कर लिया और इसके एक वर्ष बाद ही उनके पिता का स्वर्गवास हो गया। तदुपरान्त उन्होने साहित्य, व्याकरण तथा अन्य शास्त्रों के अध्ययन में अपने को गहन रूप से नियोजित किया। उन्होंने विख्यात पंडित वासुदेव,

जिन्होंने अपने सुयोग्य शिष्य रघुनाथ के साथ मिलकर गाल में नव्य न्याय की प्रतिष्ठा की थी, के महा-विद्यालय में अध्ययन किया। अट्ठारह वर्ष की उम्र मे ीचैतन्य प्राकांड पंडित हो गये। तब उन्होंने स्वयं पनी चतुष्पाठी (महाविद्यालय) स्थापित की। योग्य नीषी, विद्वान एवं आचार्य के रूप में उनकी ख्याति दूर व्यापी हो गयी। स्मृति एवं न्याय के प्राकांड विद्वानगण भी उनके साथ साहित्य एवं दर्शन के विषयों शास्त्रार्थ करने से घबड़ाते थे। उन्होंने अपनी बाल्या-स्था में ही कश्मीर के प्रौढ़ और महान् 'दिग्विजय' डित केशव मिश्र को पराजित कर दिया था। यह एक ड़ी घटना थी। निमाई पंडित अपने समय के अद्वितीय वं अग्रणी विद्वान माने जाते थे।

चौबीस वर्ष की उम्र तक निमाई ने गृहस्थाश्रम रहकर अपनी माँ की देख-भाल और सेवा-सुश्रूषा की। इसी अवधि में, कहा जाता है कि उन्होंने बल्लभा चार्य की पुत्री विष्णुप्रिया से, जो परम सुन्दरी और ललित वदना थी, विवाह किया था। इसी समय एक महान् घटना घटी। बाइस या तेईस वर्ष की उम्र में अपने कुछ मित्रों और शिष्यों के साथ वे गया धाम गये—अपने स्वर्गीय पिता को पिण्ड-दान देने। भगवान विष्णु के चरणों की पूजा करने के क्षण अचानक उन्होंने परम अनुभूति की उपलब्धि की, जिससे उनका स्वरूप ही रूपान्तरित हो गया। वे समाधिस्थ हो गये। उस समय श्री ईश्वर पुरी—एक वैष्णव भक्त—वहाँ उपस्थित थे। उन्होंने चैतन्य की भावदशा देखी और उन्हें एक महान् भक्त समझकर भक्ति की दीक्षा उन्हें दी। इस दीक्षा का उनपर चमत्कारी प्रभाव पड़ा। जीवन के एक नये अध्याय का इससे उद्घाटन हुआ। उनका हृदय श्रीकृष्ण के विलक्षण सौन्दर्य के सम्मोहन से आप्लावित हो उठा। क्षण भर के लिए वे अपने शिष्यों, अपनी राष्ट्रव्यापी ख्याति, अपनी वृद्धा असहाय माता तथा अपनी नव यौवना रूपवती पत्नी तक को भूल गये। बड़ी कठिनाई से उनके साथियों ने उन्हें घर वापस लाया।

चैतन्य पूरे रूपान्तरित व्यक्ति के रूप में नवद्वीप लौटे। वे श्रीकृष्ण के चिन्तन में निमग्न रहने लगे। अध्यापन कार्य उनका समाप्त हो गया। उनकी चतुष्पाठी (महाविद्यालय) बन्द हो गयी। अब वे न स्पर्द्धाविहीन शास्त्रार्थी नैयायिक रह गये, न तर्कशील स्मार्त और न आलोचना प्रवण अलंकार शास्त्री। अब श्रीकृष्ण की एक झलक पाने से बढ़कर अब उनके लिए आनन्द का कोई अन्य विषय नहीं रह गया। वे अब एक बन्द कमरे में रहकर कृष्ण-कृष्ण की रट लगाने लगे। आँखों से अश्रु-धारा प्रवाहित होती रहती और वे मूर्च्छित हो जाते। साधारण लोग उन्हें पागल समझने लगे किन्तु अद्वैत आचार्य, श्रीवास, गंगादास, गदाधर आदि वैष्णवों ने उनके धार्मिक आनन्दोन्माद को समझा, सराहा और उनके जीवन के बदले हुए नये अध्याय को देखकर उत्फुल्लता का अनुभव किया।

नवद्वीप का वैष्णव समुदाय श्रीचैतन्य की ओर उमड़ पड़ा। उनका घर धर्म-चर्चा और कीर्तन का केन्द्र हो गया। सारा नदिया श्रीकृष्ण के पावन नाम के दिवा-रात्रि उच्चारण से, अखण्ड कीर्तन से शुद्ध हो गया। दूर-दूर से वैष्णव धर्म के पंडित-उपदेशक श्री चैतन्य के निकट एकत्र होने लगे और उनके संदेश का प्रचार करने लगे। श्री नित्यानन्द अवधूत भी आये जो इस नव वैष्णव आन्दोलन के सामाजिक विचारों के सबल संदेशवाहक हुए। श्री चैतन्य ने लोगों के मन को ईश्वरोन्मुखी बनाने तथा ईश्वर प्रेम के स्वर्गीय आनन्द का उपभोग करने की ओर प्रेरित किया। उनका दृढ़ विश्वास था कि सामूहिक संकीर्तन इस आनन्द की प्राप्ति का सर्वोत्तम साधन है।

श्री चैतन्य की प्रेमपूर्ण करुणा, आध्यात्मिक शक्ति, कीर्तन की नूतन पद्धति—जिसमें न जाति का भेद था न वर्ण का, न धन का भेद था न विद्या का, न रूप का भेद था न रंग का—ने पूरे समुदाय में भक्ति की बाढ़ ला दी। क्यों न ऐसा होता! श्री चैतन्य महाप्रभु स्वयं भक्ति के सिन्धु जो थे! अब मन्दिरों का द्वारा अछूतों और गरीबों के लिए बन्द नही रह गया। केवल जीवन्त

श्रद्धा ही मन्दिर-प्रवेश का आधार रही। निर्धन और उपेक्षित, शोषित और पीड़ित, शूद्र और चाण्डाल सभी श्री चैतन्य की प्रेमपूर्ण, भक्ति-रस से सिक्त, उठी हुई लम्बी बाँहों में सादर समाहित होने लगे। हरिदास नामक मुसलमान भी उनकी उदार बाहों में सिमट गया।

श्री चैतन्य महाप्रभु की यह धार्मिक उदारता कट्टर-पंथी ब्राह्मणों से सही नहीं गयी। उन लोगों ने नगर के विधि-प्रशासक चाँद काजी के पास शिकायत की कि चैतन्य का आचरण हिन्दू जैसा नहीं है। काजी ने धमकी दी कि यदि शोरगुल से भरा कीर्तन बन्द नहीं हुआ तो निमाई पंडित अपने शिष्यों के साथ इस्लाम धर्म मानने के लिए बाध्य किये जायँगे। किन्तु ईश्वर के पुत्र भय में नहीं होते, अभय में होते हैं। वे न किसी को भय देते हैं न किसी से भयभीत होते हैं। श्री चैतन्य ने काजी के आदेश को सुनकर सैकड़ों भक्तों को एकत्र किया। सबके हाथ में मशाल देकर जोर-जोर से कीर्तन करते हुए वे काजी के घर पहुँचे। और तभी विस्मयकारी घटना घटी। काजी ने महाप्रभु से थोड़ी देर तक बातें कीं और आध्यात्मिक आनन्दोन्माद से तत्क्षण ही वह भर उठा। आँखों से अश्रुधारा प्रवाहित होने लगी। रो-रोकर उसने श्री चैतन्य से कृपा-याचना की। महाप्रभु ने उसे आश्रय दिया। और काजी स्वयं उस कीर्तन मंडली में साथ हो गया। क्या चमत्कार था! प्रेम के सागर के सामने कठोरता का कोई शिला-खंड डूबने से कैसे बच सकता है! इस घटना के बाद तो अनेकानेक मुसलमानों ने भी वैष्णव धर्म को अंगीकार कर लिया। महाप्रभु के अभय और प्रेम ने तत्कालीन भयाक्रान्त रुग्ण समाज को निर्भयता के जागरण-मंत्र से अभिसिंचित कर नवजीवन की संजीवनी-सुधा पिला दी।

चौबीस वर्ष के वय में श्री चैतन्य ने केशव भारती से संन्यास की दीक्षा ली और अपने जन्म-स्थान का त्याग कर दिया। उनकी माँ फूट-फूट कर रोयीं। उनके अनुरागी उदास हो गये। उनकी पत्नी बिफर कर मूर्छित हो गयीं। किन्तु संन्यास के कठोर व्रत से कोई भी श्री चैतन्य को डिगा नहीं सका। कौपीनवन्तं खलु भाग्यवन्तम्। कौपीनधारी महाप्रभु चैतन्य निकल पड़े। उन्होंने वृन्दावन के बदले अपनी माँ के आग्रह पर जगन्नाथपुरी में रहना स्वीकार किया।

अप्रैल १५१० में श्री चैतन्य ने दक्षिण और पश्चिम भारत की यात्रा की। उनके प्रखर ज्ञान और चुम्बकीय आध्यात्मिक व्यक्तित्व से प्रभावित होकर अनेक छोटे-बड़े लोग उनके शिष्य हुए। दक्षिण में वे रामेश्वरम् तथा पश्चिम में सोमनाथ, द्वारका और प्रभास क्षेत्र तक की यात्रा की। फिर काशी, प्रयाग, वृन्दावन की भी यात्रा की। पुरी से वृन्दावन की उनकी यात्रा के क्रम में अनेक मुसलमानों ने वैष्णव धर्म को अपना लिया। बंगाल के शासक हुसैन शाह के ऊँचे अधिकारी रूप और सनातन, इन दोनों भाइयों ने भी इनकी शिष्यता स्वीकार कर संन्यास की दीक्षा ली।

श्री चैतन्य महाप्रभु ने मात्र ४८ वर्ष के वय में अपना लीलासंवरण कर लिया। किन्तु उन्होंने इस अल्पवय में ही श्रद्धा, आस्था और प्रेम के संगम पर जिस प्रेम-रस का सागर सिरजा उसकी लहर युग-युग तक तापित-शापित लोगों को शान्ति देती रहेगी। उन्होंने ज्ञान और प्रेम में समन्वय स्थापित कर, "मैं और मेरा" का त्याग कर लोगों को सिखाया कि वे ईश्वर के साथ सदैव संयुक्त हैं।

स्वामी विवेकानन्द का कथन है—'चैतन्य ने गोपियों के उन्मत्त प्रेम का प्रतिनिधित्व किया। प्रत्येक व्यक्ति को सांत्वना प्रदान करती हुई उनकी भक्ति बंगाल की समूची धरती पर फैल गयी। उनका प्रेम निस्सीम था। महात्मा या पापी, हिन्दू या मुसलमान, पवित्र या अपवित्र, वेश्या, भिखारी—सब उनके प्रेम के अधिकारी थे, सब उनकी कृपा और करुणा के अधिकारी थे।"

गतांक से आगे

स्वामी अद्भुतानन्द (लाटू महाराज) की जीवन-कथा

—श्री चन्द्रशेखर चट्टोपाध्याय
अनुवादक—स्वामी विदेहात्मानन्द
रामकृष्ण मठ, नागपुर

पता नहीं अवधूत की सेवा से बालक को कितनी शान्ति मिली थी, परन्तु शास्त्र में लिखा है कि प्रतिक्षण नाम-संकीर्तन करने से मन की व्याकुलता दूर होती है। शास्त्र में साधुसंग की भी अपार महिमा गायी गयी है। परमहंसदेव भी कहा करते थे—"कष्ट उठाकर भी साधुसंग करना। संसार का नशा उतारने के लिए एक-मात्र वही चावल धोये हुए पानी के समान है। संसारोन्मत्तता रूपी रोग को दूर करने के निमित्त वे लोग ही उत्कृष्ट वैद्य हैं। साधु संगति में रहने पर ईश्वर में अनुराग होता है – उनके प्रति प्रेम होता है; उन्हें प्राप्त करने की सद्बुद्धि जन्म लेती है।" जिस साधुसंग की ऐसी महिमा गायी गयी है वह बालक की तत्कालीन व्याकुलता को शान्त कर दे, इसमें आश्चर्य ही क्या ?

अवधूत की सेवा के फलस्वरूप लालटू की व्याकुलता संयमित हुई थी—यह बात हमने महापुरुष महाराज के मुख से सुनी है। प्रसंग उठने पर एक दिन शिवानन्द स्वामीजी ने कहा था—"लाटू भाई ने काफी दिनों तक अवधूत की सेवा की थी। उसी की सेवा से उस बार उनके प्राण बच गये थे। नीरोग होने के बाद अवधूत ने लाटू भाई को आशीर्वाद दिया था। साधुसंग की कितनी महिमा है तुमलोग भला क्या समझोगे ! उनकी सेवा करने से मन का प्रवाह बदल जाता है। उनके आकर्षण में कितनी शक्ति है—निम्नगामी मन को वे लोग ऊपर उठा सकते हैं। देखा नहीं कि ठाकुर की कृपा से कितने लोगों का मन पलट गया !"

चार महीनों के लम्बे काल तक अवधूत बीमार रहे और इन पूरे चार महीनों तक लालटू ने दिन-रात उनकी सेवा-परिचर्या की। परवर्ती काल में मैंने अवधूत के ही मुख से जो कुछ सुना है, लिपिबद्ध कर रहा हूँ—"लाटू की अनन्य सेवा व परिचर्या भूलने की नहीं है। रात-दिन वह मेरे निकट ही रहा करता था; मुझे जब जिस चीज की भी आवश्यकता होती, वह पहले से ही ठीक करके रख दिया करता। उसे कभी किसी कार्य को करने से विमुख होते नहीं देखा। वह दिन-रात मुझे नाम सुनाया करता, मेरे सभी कार्य करता, नहलाता, खिलाता, दवाइयाँ देता, यहाँ तक कि मेरा मल-मूत्र भी साफ करता। उसके मुख से 'राम' नाम सुनते-सुनते मेरे रोग की पीड़ा घट जाया करती थी।"

परवर्ती काल में भी हमने देखा है कि उनकी सेवा कितनी आन्तरिक व अनन्य हुआ करती थी। यथास्थान हम उसे लिपिबद्ध करेंगे।

अब अवधूत की सेवा के फलस्वरूप लालटू को मानसिक शान्ति के अतिरिक्त एक अन्य महत्वपूर्ण शिक्षा प्राप्त हुई थी—जिसकी चर्चा किये बिना हम उनकी आध्यात्मिक उन्नति का मूल सूत्र खो बैठेंगे।

अवधूत नित्यगोपाल के थोड़ा स्वस्थ होने पर रामबाबू संध्या के समय 'श्रीचैतन्यचरितामृत' ग्रन्थ का पाठ कर उन्हें सुनाया करते थे। प्रतिदिन उस समय लालटू वहाँ उपस्थित रहा करता था। 'श्रीचैतन्य-

चरितामृत' में सेवक-सेव्य सम्बन्ध के बारे में जो कुछ लिखा है, बीच-बीच में उसे लेकर रामबाबू और नित्यगोपाल के बीच चर्चा हुआ करती थी। लालटू उसे पूर्ण मनोयोग के साथ सुना करता। रामबाबू कभी-कभी ठाकुर की उक्तियों तथा बोधकथाओं के द्वारा किसी-किसी श्लोक की व्याख्या किया करते थे। इससे सारा मर्म स्पष्ट व सुबोध हो जाता था। सेव्य-सेवक भाव के बारे में बालक ने रामबाबू के मुख से निम्नलिखित उदाहरण सुना था। परवर्ती काल में उन्होंने हमलोगों को बताया था :

"जानते हो....। एक गाँव में एक जुलाहा रहा करता था। वह बड़ा ही धार्मिक था, सभी का उस पर विश्वास तथा प्रेम था। जुलाहा बाजार में कपड़े बेचने को जाया करता था। ग्राहक आने पर वह कहता—'रामजी की इच्छा से सूत का दाम इतना, रामजी की इच्छा से मजदूरी इतनी, और रामजी की इच्छा से मुनाफा इतना।" सभी लोग उसकी बातों पर विश्वास कर कपड़े ले जाते। पर एक दिन क्या हुआ जानते हो? उस दिन वह व्यक्ति आधी रात को बरामदे में बैठा भगवान् का नाम जप रहा था, उस समय कुछ डाकू उधर से होकर गुजरे। वे लोग उसे पकड़कर साथ ले गये। एक आदमी के घर डकैती करने के पश्चात् उन लोगों से सारी चीजें जुलाहे के सिर पर लाद दी। उसी समय पुलिस ने आकर जुलाहे को पकड़ लिया। डाकू सभी भाग निकले। पुलिस ने जुलाहे का काफी अपमान किया। परन्तु जुलाहे ने तब भी 'रामजी की इच्छा' यह टेक न छोड़ी। न्यायाधीश ने आकर जुलाहे को धमकाया। जुलाहा रोते हुए कहने लगा—"हुजूर! रामजी की इच्छा से मैं भगवन्नाम का जप कर रहा था; रामजी की इच्छा से डाकुओं ने मुझे पकड़ लिया; रामजी की इच्छा से उन लोगों ने एक घर में डकैती की; रामजी की इच्छा से उन्होंने सारी गठरियाँ मेरे सिर पर लाद दीं; रामजी की इच्छा से मैं पुलिस के हाथों पड़ गया; रामजी की इच्छा से मुझे कैदखाने में रखा गया; रामजी की इच्छा से मुझे हुजूर के सामने पेश किया गया; रामजी की इच्छा से हुजूर ने मुझे धमकी दी।' न्यायाधीश ने जुलाहे को रिहा कर देने का आदेश दिया- छूट जाने पर वह बोला—'रामजी की इच्छा से हुजूर ने मुझे छोड़ दिया।'

बाद के दिनों में लाटू महाराज सेवक-सेव्य मनोभाव की बातें इतने सुन्दर ढंग से कहा करते कि जो कोई भी सुनता, उसके मन में वह धारणा स्पष्ट हो जाती—"अरे! भगवान् की सेवा करना, उनकी खुशामद क्यों करोगे? भगवान् क्या बड़े लोगों की भाँति खुशामदी पसन्द करते हैं? देखा है न कि बड़े लोगों के पास कितने चाटुकार रहते हैं! कुछ पाने के लिए कितनी चापलूसी करते हैं। परन्तु अपना उल्लू सीधा होते ही वहाँ से निकलकर किसी दूसरे बड़े आदमी के पास चले जाते हैं। फिर उसी की चापलूसी शुरू कर देते हैं। जिससे पैसा मिल गया उसी को गाली आदि देकर दूसरे बड़े आदमी से मन लगाया और उससे भी कुछ ऐंठा। फिर उसे भी त्याग कर दूसरे आदमी के पास गया। इस तरह तो उनकी (ईश्वर की) सेवा नहीं हो सकती। उनकी सेवा में लगने पर विषय, मान, अपमान, लज्जा आदि सब कुछ छोड़ देना पड़ता है। किसी कामना के साथ उनकी सेवा करना उचित नहीं, बल्कि सिर्फ कृतज्ञ होकर उनके पास पड़े रहना चाहिए। अरे! वे तो तुम्हारा मंगल कर ही रहे हैं, पर तुम्हीं उन्हें भूल जाते हो—उनकी सेवा में नहीं लगते, इसीलिए तो तुम्हारी इतनी दुर्दशा हो रही है। जो उपकार पाकर भी कृतज्ञता नहीं मानता, उसकी क्या कभी उन्नति हो सकती है? उन्हें भूल जाने की वजह से ही तो तुमलोगों के दुःख दूर नहीं होते!"

इस प्रकार की छोटी-छोटी उक्तियों से हम सेव्य-सेवक सम्बन्ध के बारे में उनकी धारणा से अवगत हो सकते हैं। और यह सेव्य-सेवक धारणा उन्होंने अवधूत नित्यगोपाल की परिचर्या करते समय दृढ़ कर ली थी।

हमें सेव्य-सेवक-सम्बन्ध के बारे में यथार्थ बोध नहीं

है। हमारी धारणानुसार सेव्य-सेवक-सम्बन्ध का अर्थ है 'स्लेव-मेन्टलिटी' अर्थात् दासमुलभ मनोवृत्ति। समाज-शास्त्र की दृष्टि से सेव्य-सेवक-सम्बन्ध रूपान्तरित होकर मालिक-नौकर सम्बन्ध में परिणत हो जाता है, परन्तु आध्यात्मिक दृष्टि से सेव्य-सेवक-सम्बन्ध बड़ा ही मधुर एवं आनन्ददायक है। वहाँ पर सेव्य प्रभुत्व का दावा नहीं करता, और न ही सेवक दासत्व-बोध के द्वारा अपनी अन्तरात्मा को खिन्न करता है। वहाँ पर सेव्य-सेवक के बीच सम्बन्ध रहता है—पिता-पुत्र सम्बन्ध के समान, पति-पत्नी सम्बन्ध के समान, राजा-प्रजा-सम्बन्ध के समान, सखा-सखी सम्बन्ध के समान—दोनों ही एक-दूसरे के परिपूरक तथा एक-दूसरे पर निर्भरशील होते हैं। उनमें उच्च-नीच का स्तर भेद रहने पर भी, माधुर्य के आकर्षण का अभाव नहीं रहता। कोई भी अपने ऐश्वर्य व अधिकार का भोग अकेले ही नहीं करना चाहता। सदा सर्वदा वे एक-दूसरे को अपना ऐश्वर्य व अधिकार बाँटने को प्रस्तुत रहते हैं।

बिना माँगे ही सेव्य-सेवक मन्त्र की दीक्षा पाकर अब से लालटू के हृदयाकाश से व्याकुलता का तीव्र झंझावात तो दूर हुआ ही, पर साथ ही, उसके स्थान पर शरणागति के स्निग्ध आलोक का भी उदय हुआ। उसी आलोक में लालटू को अपने गन्तव्य स्थान का पता मिल गया था। इतने दिनों तक उसे मालूम न था कि सेव्य कौन है? कैसा है? अब इस विषय में उसकी स्पष्ट धारणा हो जाने से उसके मन की संकीर्णता दूर होने लगी थी।

सुदीर्घ आठ महीनों के पश्चात् परमहंसदेव दक्षिणेश्वर को लौटे। उसी दिन उन्होंने रामबाबू के घर पदार्पण किया। उस दिन दुर्गापूजा की सप्तमी तिथि थी। जगदम्बा के आगमन के अवसर पर माँ के भक्त के आगमन ने भक्त-मण्डली में नवीन प्राण का संचार किया था। उस दिन रामबाबू का गृह-मन्दिर भक्तों के कलरव से पूर्ण हो उठा था।

उस समय लालटू का आनन्द देखने योग्य था। वह मानो वसन्त समीर के स्पर्श से मंजरित वृक्ष के समान नवचेतना सम्पन्न हो उठा था। उसके द्रुत आवागमन, प्रफुल्ल आनन, उल्लासपूर्ण भाषण तथा चंचल कर्मोद्दीपना ने सबको विस्मय में डाल दिया था। उसी की सहायता से रामबाबू ने एक साथ ही अनेक कार्य सम्पन्न कर लिये। उसी को भेजकर मुहल्ले में सबको संवाद दिया, उन सबके भोजन का प्रबन्ध कराया, संकीर्तन आदि की व्यवस्था करायी तथा और भी बहुत कुछ करा लिया। उस दिन बालक निष्प्राण न था, वरन् जड़त्व का नाश कर चंचल कर्ममय हो उठा था। पहले का चातक पक्षी आज नवजलधर श्यामघन मूर्ति के अमृत-सिंचन से आत्मविभोर हो उठा था।

समाचार और सूचनाएँ

रामकृष्ण मिशन आश्रम, में प्राक्तन प्रशिक्षणार्थी सम्मेलन

राँची। रामकृष्ण मिशन विद्यायन कृषि विज्ञान केन्द्र, मोराबादी, राँची द्वारा विगत २ एवं ३ मई को छठवें प्राक्तन प्रशिक्षणार्थी सम्मेलन का आयोजन विद्यायन प्राङ्गण में उत्साहपूर्वक किया गया। श्रीमती राधा सिंह, आइ० ए० एस० आयुक्त, दक्षिणी छोटानागपुर ने इस सम्मेलन का उद्घाटन किया। इस अवसर पर सरकारी पदाधिकारियों, बैंक अधिकारियों एवं प्राक्तन प्रशिक्षणार्थियों के बीच चर्चा, ग्रामों में प्रशिक्षणार्थियों की युवा क्लबों द्वारा चलाये जा रहे विकास कार्यों के बारे में विचार-विमर्श, तकनीकी विषयों पर चर्चा, कार्य-योजनाओं की अधिघोषणा, चलचित्र प्रदर्शन तथा सांस्कृतिक कार्यक्रमों के आयोजन भी हुए।

खगोल में रामकृष्ण जयंती

रामकृष्ण परिषद्, खगोल में श्रीरामकृष्ण देव की १५१वीं जयंती गत २७ मार्च को भक्तिपूर्वक मनायी गयी। इस अवसर पर प्रभातफेरी, पूजा, भजन के अतिरिक्त प्रायः एक हजार दरिद्र नारायणों को भोजन कराया गया। सांध्यकालीन जनसभा का उद्घाटन रामकृष्ण मिशन आश्रम, पटना के सचिव स्वामी वेदान्तानन्दजी महाराज ने किया। डॉ० विमलेश्वर डे, पटना विश्वविद्यलय के भूतपूर्व प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, मनोविज्ञान विभाग, ने सभा की अध्यक्षता की। डा० जे० एन० तिवारी मुख्य वक्ता थे।

स्वामी वेदान्तानन्द ने श्रीरामकृष्ण की आंतरिक विनम्रता एवं सहिष्णुता की चर्चा करते हुए कहा कि उनमें श्री चैतन्य महाप्रभु की समस्त आध्यात्मिक विशेषताएँ समाहित हो गयी थीं। डॉ० जे० एन० तिवारी ने श्रीरामकृष्ण के धार्मिक अवदानों पर प्रकाश डाला। डॉ० विमलेश्वर डे ने अपने अध्यक्षीय भाषण में कहा कि धर्म और जीवन एक दूसरे से भिन्न नहीं है और श्रीरामकृष्ण देव के उपदेशों को ग्रहण कर ही हमारी राष्ट्रीय, सामाजिक और वैयक्तिक समस्याओं का समाधान हो सकता है।

श्री तारापद दास ने श्रीरामकृष्ण की आध्यात्मिक साधना पर अपना निबंध-पाठ किया। आरंभ में श्री नारायण चन्द्र चटर्जी ने सचिव की हैसियत से परिषद् का वार्षिक प्रतिवेदन प्रस्तुत किया। पटना विज्ञान महाविद्यालय के श्री तरुण मित्रा एवं अन्य स्थानीय कलाकारों ने गीत एवं भजन प्रस्तुत किये तथा श्री विजय कुमार मुखर्जी ने धन्यवाद ज्ञापन किया।

रामकृष्ण मिशन आश्रम, पटना के नये सचिव

पटना, २ अप्रैल, स्थानीय रामकृष्ण मिशन आश्रम के वयोवृद्ध सचिव श्रीमत् स्वामी वेदान्तानन्दजी महाराज ने कल सचिव पद से स्वेच्छया अवकाश ग्रहण कर लिया। सचिव के रूप में दीर्घ अवधि तक यहाँ रहकर उन्होंने आश्रम के विकास में अनेक महत्वपूर्ण एवं चिर-स्मरणीय कार्य किये। वर्तमान रामकृष्ण मन्दिर का विशाल एवं भव्य नाट्य गृह, साधु-निवास, अस्पताल-भवन आदि का निर्माण उनके कार्य काल में ही हुआ। समय-समय पर धार्मिक प्रवचनों का आयोजन, प्रति वर्ष स्मारिका का प्रकाशन उनके कार्य काल की विशेषताएँ हैं।

श्रीमत् स्वामी चन्द्रानन्दजी महाराज ने नये सचिव के रूप में कार्य-भार ग्रहण किया है। इसके पूर्व वे रामकृष्ण मिशन विद्यापीठ, देवघर के सचिव थे। उनके रूप में एक शास्त्रज्ञ, कर्मठ और दक्ष साधु के आगमन से यहाँ की भक्त-मंडली में प्रसन्नता का बोध हुआ है।

× × × ×